आदर्श-जीवन एवं मोक्ष

THE IDEAL LIFE AND MOKSHA (FREEDOM)

का

हिन्दी अनुवाद

लेखक

स्वामी नारायणानन्द

मैसर्स—एन० के० प्रसाद एण्ड को०
मुद्रक तथा प्रकाशक
ऋषिकेश (उत्तर प्रदेश)
हि मा ल य

मूल्य २॥)

प्रकाशक :—

मैसर्स—एन० के० प्रसाद एण्ड को०,

ऋषिकेश (उत्तर प्रदेश) हिमालय।

[प्रथम संस्करण १००० —१९५६]

मुद्रकः—

श्री "नारायण प्रेस,"

ऋषिकेश (देहरादून) उ० प्र०

प्रस्तावना

भारतीय शास्त्र वस्तुत: सागर के समान सुविस्तृत है, जिसका आदि से अन्त पर्यन्त मन्थन कर उससे सार रूपेण कुछ ग्रहण करना कदाचित् बायें हाथ का खेल नहीं। प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं जीवन का इतिहास उन विशालकाय ग्रन्थों में छिप रहा है, जिनका अध्ययन-मनन करना कार्य-व्यस्त सामान्य जनता के लिये संभव नहीं। इसके अतिरिक्त विशेषतया उनके संस्कृत में होने के कारण कोई लाभान्वित भी नहीं हो पाता। इसी हेतु से श्री स्वामी जी महाराज की लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी भाषा में अनुवाद करने का प्रयास आरम्भ किया गया है।

स्वामी जी महाराज की लिखी हुई अब तक ग्यारह पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं; जो विविध प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाश डालती हुई देश-देशान्तर में जाकर महान् विद्वान अन्वेषकों और योगाभ्यासियों के लिये अमूल्य लाभदायक साबित होकर मुक्त कंठ से प्रशंसा प्राप्त कर चुकी है। ये पुस्तकें पूर्ण रूप से व्यावहारिक होने के कारण विविध मत-मतान्तर तथा साम्प्रदायिकता से दूर रह कर सभी धर्मों के स्त्री-पुरुषों को समान रूप से स्वीकार करती हैं। वे मानव समाज के अति गहन एवं आवश्यक प्रश्नों पर अद्भुत रूप से प्रकाश डालती हैं। यथार्थ में मनुष्य के अंदर गुप्त रहस्यमयी प्रहेलिकाओं को सुलझाती हैं कि मनुष्य को किस प्रकार अपनी रक्षा करना, आनन्द के हेतु व्यवहार करना, मन के रहस्य पूर्ण विविध व्यापार को जानना तथा योग और वेदान्त के अभ्यास द्वारा आदर्श, पवित्र, स्वस्थ और सखमय जीवन यापन करना है।

कहना नहीं होगा—स्वामी जी महाराज मिलनसार प्रकृति के हैं; यद्यपि शान्ति की साक्षात् आकृति बन कर बैठे रहते हैं। जितना ही आपका अध्ययन गंभीर है उतना ही आपके स्वभाव में माधुर्य दीख पड़ता है। तमाम शास्त्रों को वैसे ही चाट मारने के पक्षपाती नहीं, बल्कि तदनुकूल आचरण के लिए आपकी प्रेरणा अधिक रहती है। यही कारण है कि योग की बहुतेरी सूक्ष्मतम विधियों में आप निष्णात हैं। मन की गति-विधि नियंत्रण एवं कुण्डलिनी पर आपका विशेष अध्ययन एवं अनुभव है। इस विषय की पुस्तकें भी धीरे-धीरे जनता के कर-कमलों तक आएंगी। आप अध्ययनशील एवं अनुभवी गुरु हैं तथा समाज के दक्ष सेवक भी हैं। संन्यासी समाज में तो आपकी प्रतिष्ठा स्वयं सिद्ध है। केवल अध्ययन के बल पर ही नहीं बल्कि जो कुछ भी लिखते हैं अनुभव से संबंध रखते हुए लिखते हैं। आपको एकान्तशील एवं सर्वदा भाव-विभोर अवस्था में देखकर साधक स्वयं प्रचुर प्रेरणाओं को लेकर धन्य-धन्य हो जाता है।

अंग्रेजी भाषा जानने वालों के लिए श्री स्वामी जी महाराज का परिचय देने की कोई आवश्यकता नहीं। यह पुस्तक जो आपके हाथ में है स्वामी जी की एक छोटी सी पुस्तक *The Ideal Life & Moksha (Freedom)* का भाषानुवाद है। उक्त पुस्तक प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक जीवन का दिग्दर्शन कराती है तथा हमारे हिन्दुत्व का भी प्रचुर परिचय देती है। श्री स्वामी जी महाराज ने आदर्श एवं मुक्त जीवन की सरल व्याख्या की है तथा उनके अनुपालन में आवश्यक नीति-नियमों का भी विधान दिया हैं। जीवन का परम श्रेय मोक्ष है और इसी लक्ष्य के मिष यापित जीवन का नाम आदर्श-जीवन है। इस उद्देश्य के अनुसार चतुर्योग अर्थात् कर्मयोग भक्तियोग, ज्ञानयोग और राजयोग रूपी चार रास्ते दिखाये गये हैं। व्यक्ति के अभिरुचि, चरित्र तथा आध्यात्मिक विकास के अनुसार प्रत्येक मार्ग सुगम और साध्य है। इस पर संक्रमण करते हुए कैसे परम श्रेयस् की प्राप्ती हो सकती

है यही इस पुस्तक का विषय है। इसकी व्याख्या करते हुए लेखक ने आधुनिक जीवन की आवश्यकताओं के गह्वर प्रदेश में प्रवेश कर इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश डाला है कि प्राचीन काल के संदेशों को आधुनिक अवस्था में किस प्रकार अनुपालन किया जा सकता है और किस प्रकार आज का मानव वर्तमान युग के भार और संघर्ष से अपने को पतित तथा नष्ट होने से रक्षा कर सकता है। द्वितीय अध्याय 'धर्म' अति सुन्दर तथा सुसज्जित है जो निश्चय ही सभी पाठको के लिए लाभदायक होगा। तृतीय से सप्तम अध्याय तक भिन्न-भिन्न योग संबंधी विषयों की समीक्षा स्पष्ट रूप से की गई है। सच्चे साधकों के लिए यह निःस्सन्देह अधिक सहायप्रद एवं लाभदायक होगा।

अधिक न लिखकर हम हिन्दी जनता से यही अनुरोध करेंगे कि वे श्री स्वामी जी के व्यक्तिगत एवं उनकी पुस्तकों के सान्निध्य में आकर लाभान्वित हों।

हरि ॐ तत्सत्

—प्रकाशक

विषय-सूची

आदर्श-जीवन

एवं मोक्ष

भूमिका

जरा सोचिये, सुस्वादु मधु से पूरित एक पात्र है। इसकी मधु-वह गन्ध सुदूर से मधुपायी भृङ्गों को खींच लाती है। ये भृङ्ग आ-आकर पात्र के चारों ओर मँड़राते हैं। परन्तु बैठकर ज्योंही मधु-पान का समारम्भ करना चाहते हैं, कि उनके पङ्ख उसमें लथपथाकर उलझ जाते हैं और वेदना ही इनके हाथ लगती है। जब कि पंखें लपटा गईं, तब ये फिर हाथ मलते और सिर धुनते रहें! होगा ही क्या? जीवन तो विवशता के माध्यम को पकड़ ही चुका है। वे मधु का स्वाद भी नहीं ले पाए और उससे निकलने की विधि से भी अपरचित रह गए! दोनों प्रकार आखीर मौत ही उनकी होती है।

वही दशा है मानव वर्ग की। वह आता है, विश्व में अपना प्रभुत्व जमाने–शासन की लालसा से–किन्तु होने लगता है शासित–माया और मोह से। वह आता है, आनन्द और उल्लास के लिए–किन्तु दूसरों के आनन्द और उल्लास का उपकरण हो जाता है। वह भी किसका? अपने मन और इन्द्रियों का ही तो! मानव विविध दुःखानुवीथियों से गुजरता है, कारणता इसमें मन और इन्द्रियों की दासता ही तो है! कोई ही धीर जो अपने मन और इन्द्रियों का शासक है, वह विश्व का शासक है। वह त्रिभुवन का स्वामी है। हम वैसे हैं क्या? अपने कर्म और अपनी इच्छाओं, के प्रतीक ही तो हैं। इच्छाओं, वासनाओं और कर्मों के जैसे बीज अपने अतीत में बोए, उसका ही फल तो आज हम काट रहे हैं।

मानव सोचता है कि वह इन्द्रियों और मनोवाञ्छित भोगों की उपलब्धि कर सुखी हो जायगा – कि वह कीर्ति और वित्त का स्वामित्व प्राप्त कर लेने पर सुखी हो जायगा ! परन्तु ऐसी बात नहीं है । किसी व्यक्ति को इन्द्रियों की परवशता के मिस सब सुख-सुविधाएँ दीजिए, फिर पूछिए कि वह क्या सुखी है ? क्या ऐसा व्यक्ति मानसिक शान्ति और आनन्द को प्राप्त कर सकता है ? नहीं, मन और इन्द्रियों के कहे पर चलने वाला व्यक्ति नितान्त अन्धेपन से ग्रस्त है । वह काल के आवाहन पर जीवन से हाथ धो बैठेगा । बिना किसी रोक-टोक के इन्द्रियों की लोलुपता में बहे जाने का जो आदी है, वह व्यक्ति यों मूढ़ है, जैसे कोई अग्नि की ज्वाला की शांति के लिए घृत का उपयोग करता चला जावे । घृत से ज्वाला में अभिवृद्धि ही होगी, न कि उसका प्रशमन होगा । इन्द्रिय के भोग मानव की शक्तियों को बिखेर ही देते हैं । उनकी कायिक, मानसिक एवं चारित्रिक दुर्बलता के ही हेतु हैं । वे मन की शांति का अपहरण कर लेते किंवा भविष्य के पहले ही जीवन में दुःख और असफलताएँ भर जाते हैं । यह तो निश्चित सत्य है ।

धन की अधिकतम मात्रा भी मनुष्य को सुख नहीं दे सकती । इन्द्रियों के क्षणिक उपभोग के निमित्त धन की सहायता वाञ्छित होती है । व्यक्ति जितना ही धन इकट्ठा करता है, उतनी ही अधिक से अधिक इच्छाओं-वासनाओं का सर्जन करता चला जाता है । और तदनुरूप चिंताएँ भी बढ़ती ही चली जाती हैं । सर्वत्र ही हम यही देखते हैं कि व्यक्ति धन की पिपासा लेकर दुःखमय जीवन को अङ्गीकार कर लेता है — तभी तो ईसामसीह ने कहा है कि सुई की नोंक से ऊँट का निकल जाना संभव है, परन्तु धनिकों के लिए ईश्वर की प्राप्ति सम्भव नहीं । यही वस्तुतः जीवित सत्य है । रोम की एक कहानी है कि एक व्यक्ति को जहाज़ के नाश

द्वारा भयंकर क्षति उठानी पड़ी। उसका भविष्य ही समझिए बिगड़ गया। फिर भी उसके पास एक करोड़ पौण्ड शेष थे। वह व्यक्ति चिन्ता से इतना ग्रस्त हुआ और अपने परिवार तथा सम्मान पर इतनी चोट सी लगी उसे, कि अन्त में उसने आत्म-हत्या के द्वारा जीवन का शेष ही कर लिया। अब ज़रा सोचिए, धन दुःख का कितना हेतु है। उसके पास एक करोड़ पौण्ड तो बच चुके थे — वह क्या कोई कम सम्पत्ति थी भला? परन्तु वह व्यक्ति क्षति के सदमे से इतना आहत हुआ कि जोवन को भी सँभाल नहीं सका।

एक निर्धन व्यक्ति सोचता है — कुसमय में अपनी सुरक्षा के लिए कुछ रुपये इकट्ठे कर लूँ। वह सौ रुपये जोड़ता है किन्तु ये रुपये उसे पर्याप्त नहीं दीखते। वह कुछ और की लालसा करता है। फिर हज़ार रुपये जोड़ता है, वह भी थोड़ा प्रतीत होता है, यों असंख्य की वाञ्छा होती जाती है। अन्त में इच्छाओं के साथ बहकर लक्ष्य के मिस उसे दुःख और संकट ही हाथ आता है। रुपया मनुष्य को वास्तविक सुख नहीं दिला सकता — मोक्ष भी नहीं दिला सकता — यह तो क्षणिक मोद के रूप में बन्धन ही है।

कीर्ति और यश की अभिलाषा मनुष्य को बाँधकर पतन की ओर ले जाती है। यशोधन का त्याग कोई साधारण सी बात नहीं। यह तो समझिए कुपथ्य के सदृश है, जो रोगियों के रोग में अभिवर्धन का ही हेतु होता है। जैसे कमजोर आँतवाला रोगी पौष्टिक भोजन को पचा नहीं सकता। फिर खाने के लिए भी तरसता है। वैसे ही यश और कीर्ति को सँभाल कर रखना बड़ा ही कठिन है। अपनी शक्ति को सुचारु रूप से चलाने के लिए यथेष्ट कौशल चाहिए। कीर्ति और यश की अभिलाषा से ऊपर उठ जाना सामान्य साधना नहीं। कहते हैं कामिनी और

कंचन की आशा ही मनुष्य को बाँध लेती है, परन्तु इनसे भी कई निकल चुकते हैं। फिर, जब कीर्ति का पतन-स्थल आता है, तो शायद ही कोई पार कर पाते हैं। अभिप्राय यह कि कामिनी और कंचन के त्याग से भी बढ़कर उनका है कीर्ति की अभिलाषा का त्याग। और, यह समझ लीजिए कि कीर्ति की स्वल्प इच्छा भी हो तो वह समाधि में विघ्नकर है। साधक कभी भी समाधि-सुख का आस्वादन नहीं कर सकता जब तक वह यश-नाम की अभीप्सा के परवश है। कीर्ति की लालसा ही अहंकार को उत्पन्न करती है। और हम देख ही आए हैं कि अहंकार का विनाश किस प्रकार हुआ करता है। जल का एक बुद्-बुद् जैसे उगकर, बढ़कर फिर विलीनता में फूट जाता है, वैसे ही व्यक्ति का दर्प भी सहसा उगकर अन्त में विलीन हो जाता है। मनुष्य की कीर्ति रह नहीं पाती है क्योंकि वह तो चंचला है—विनश्वर है। एक साधारण गृहस्थ को तो घर की ही देख-भाल करनी पड़ती है। किन्तु जो समाज का कर्णधार हो चुकता है—प्रख्याति से विभूषित हो चुकता है, उसे तो समाज की, अनुयायियों की निरन्तर चिंता लगी रहती है। लाखों और करोड़ों व्यक्तियों के उपकार के लिए उसे अथक परिश्रम करना पड़ता है। चैन और विश्रान्ति को भूल कर परहित व्रत के लिए खून को पसीने नाईं बहाना पड़ता है। विचारों में तनिक सी भी असावधानी, छोटी सी भी एक भूल—उसके तथा उसके अनुयायियों के जीवन को ध्वस्त कर देने में तुली रहती है। इसलिए कीर्तिवान् पुरुष का जीवन संकटमय ही है, न कि चैन और विश्रांति के लिए। यह मस्तक पर एक दुरूह बोझ ही है, न कि सुख और शांति का किरीट।

कहने का तात्पर्य यह कि कीर्ति और धन की लिप्सा मानव को वास्तविक सुख नहीं दिला सकती। फिर जिस वास्तविक सुख और शांति की टोह में हम फिरते हैं, उसकी प्राप्ति कैसे हो? यह

तो तभी संभव है, जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को पहचानने लगे, अपने स्वत्व से परिचित होने लगे। सचराचर प्रत्येक प्राणी में मुक्ति की भावना स्वभावतः ही होती है। सब मुक्त और उन्मुक्त जीवन चाहते हैं। समग्र प्राणिसमूह की चेष्टाओं का एकमात्र उद्देश्य है मुक्ति। जलचर, थलचर या नभचर किसी प्राणी की मनोविद्या का अध्ययन कीजिए–आप यही पायेंगे कि वे मुक्ति के लिए चेष्टा कर रहे हैं। मुक्ति की कामना प्राणिवर्ग की ही सुस्थाई वस्तु नहीं, यह भावना तो तृणपत्रों में भी जागरूक प्रतीत होती है। कोई भी दुःख नहीं चाहता। क्लेश और शोक की तनिक भावनाएँ ही मानव को डिगा देती हैं। वैसे प्रत्येक की चेष्टा मुक्ति के लिए है, परन्तु कोई विरला ही मुक्ति की यथार्थ परिभाषा को जान सका है। मुक्ति-पथ पर चलने की अनभिज्ञता के कारण पथिक मुक्ति रूपी लक्ष्य के बजाय बन्धन में जा गिरता है, आनन्द की अभिलब्धि के बजाय शोक में जा निमग्न होता है। यों परिभाषा की अनभिज्ञता के कारण हम मुक्ति का दुरुपयोग कर चुकते हैं।

वैसे मुक्ति-पथ है क्या? धर्म ही मुक्ति का एकाकी पथ है। मुक्ति की अभिलालसा लेकर प्रगति के लिए जागरूक व्यक्ति को धर्म की सीखें सीखनी पड़ेंगी। आगे द्वितीय अध्याय में हम धर्म की सम्यग् व्याख्या करेंगे, जिसके द्वारा मोक्ष की सुलभता सिद्ध होगी। तृतीय अध्याय में अर्थ, काम और मोक्ष पर दृष्टिपात मिलेगा। फिर चतुर्थ अध्याय में कर्म के विषय पर यत्किञ्चित चर्चा रहेगी, कि कर्म-योग द्वारा कैसे मोक्ष का मार्ग सुगम होता है। पञ्चम अध्याय में भक्ति-योग द्वारा मुक्ति-पथ की व्याख्या मिलेगी। षष्ठ अध्याय में ज्ञान-योग का विषय है; जिसमें सत्या-सत्य वस्तु का विवेक कैसे और तदुपरान्त ज्ञान की प्राप्ति कैसे होती है, इसका स्पष्टीकरण किया जायगा। सप्तम अध्याय राजयोग के

प्रकरण को लेकर प्रस्तुत है। इसमें हम पायेंगे कि व्यक्ति किस प्रकार मन और इन्द्रियों के गतिरोध द्वारा मोक्ष की उच्चतम कक्षा तक पहुँच सकता है। यों धीरे-धीरे हम अपने विषय में बढ़ेंगे। अस्तु !

स
म
में

— २ —

धर्म

मनुष्य के चतुर्विध पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष कहलाते हैं। धर्म वह मुख्य आधारशिला ही है, जिस पर अर्थ और काम की अवास्थिति रहती है। वैसे अर्थ और काम इन दोनों को मोक्ष का साधन मात्र समझना चाहिए।

'धर्म' वैसे संस्कृत शब्द है, किन्तु इसके सम्बन्ध में देश और जाति के अनुकूल विचार बदलते रहते हैं। मिश्रियों के अनुसार धर्म का अभिप्राय मत है। ईरानी इसे पवित्रता का वाचक बतलाते हैं। केलडा में यह विज्ञान से अर्थ रखता है। यूनान में धर्म का अर्थ सुन्दरता से लिया जाता है। अंग्रेजों के अनुसार धर्म सामाजिक एवं राजनैतिक स्वतन्त्रता का नाम है। परन्तु, भारतवर्ष में धर्म के अन्तर्गत सभी के सभी आ जाते हैं। हिन्दुत्व के अनुसार धर्म का अभिप्राय किसी देवी, देवता–पीर-पैगम्बर या आचार-विचार पोषण नहीं है। बल्कि यह जीवन में कला और विज्ञान दोनों का ही अधिकरण है। यह किसी मत-मतान्त का सिद्धांत नहीं है। किन्तु यह है नितांत क्रियात्मक साधना का नाम। अर्थात् धर्म किसी विशेष जाति-पाँति, रस्म-रिवाज़ की वस्तु नहीं–किन्तु सामान्य रूप से सब में अनुगत है।

धर्म किसे कहते हैं? धारण करने की शक्ति ही धर्म है। चेष्टा की शीलता जिसमें हो, वही धर्म है। विभिन्न वस्तुओं के बीच जो सामवायिक निधि है, उसे ही धर्म कहते हैं। मोक्ष के लिए अनेक जाति-वर्गों में जितने भी अनेकानेक रास्ते बताये गये हैं, सभी धर्म की परिभाषा के योग्य हैं। सत्य ही धर्म है। ईश्वर के बनाए नियम ही धर्म हैं। मानव-जीवन की नैतिक-मानसिक पद्धति ही धर्म है। वस्तु की स्थिति को नियमन करने वाली सनातन पद्धतियों का समुदाय ही धर्म है। श्रुति-वचनों के अनुकूल वर्णाश्रम की व्यवस्था ही धर्म है। ऐहिक और पार-लौकिक सुख का साधक ही धर्म कहलाता है। प्रातः से सांय पर्यन्त तथाविध जन्म से मृत्यु पर्यन्त मानव के जो भी कार्य-क्रम होते हैं, सब धर्मों में विभक्त हैं। हमारी आंतरिक चेतना जो सत्यासत्य का विवेचन करती है, वही धर्म है। सत्कर्मों के फलों का माध्यम ही धर्म है। दुःखों, दुर्गुणों, आसक्ति और ममत्व से हमारे त्राण की राह का दिग्दर्शक ही धर्म है। ईश्वर के साक्षा-त्कार की ओर प्रवृत्त कराने वाले विज्ञान ही धर्म हैं। त्याग के द्वारा जिस माध्यम को पकड़ कर हम आत्म-तत्व के अभिमुख होते हैं, वही धर्म है। जिसके द्वारा चरित्र के निर्माण में, मन और इन्द्रियों के संयम में एवं जीवन की प्रत्येक व्यवस्ता में योग मिलता है, वही धर्म है। श्रुति और गुरु के वचनों की सनातन अनुक्रमणिका ही धर्म है। सभी धर्मों का केन्द्र एक परमात्मा है।

आध्यात्मिक चेष्टा बनकर प्रत्येक मनुष्य में अनुगत स्वभाव-विशेष ही धर्म कहलाता है, जिससे मनुष्य विवेक करता है, इन्द्रियों के गतिरोध द्वारा अतिमानसिक उन्नति की इच्छा करता है, तथा समाज और जाति में सद्भावनाओं का संचार करता है। शांति और समृद्धि का हेतु कोई भी हो, उसे ही धर्म कहते हैं। दूसरों

के हित के लिए चेष्टा करते हुए अपनी उन्नति में संलग्न रहने का नाम ही धार्मिकता है। धार्मिक जीवन ही ऐहिक मोक्ष है। धार्मिकता ही पृथ्वी पर ईश्वरीय जीवन है। अर्थ और काम तो धर्म के अधीन यन्त्रवत् चला करते हैं।

मुक्ति ही धर्म का ध्येय है। जन्म, जरा, व्याधि से नितान्त परिमुक्ति ही धर्म का ध्येय है। सुकृत दुष्कृत, पुण्य-पाप हर्षामर्ष, सब द्वन्द्वों से विनिर्मुक्ति का नाम ही धर्म है। मानव-जीवन का अभिनवीकरण किंवा दिव्यीकरण ही धर्म का उद्देश्य है, और वैसे धर्म की तीन श्रेणियाँ की जाती हैं—सिद्ध-धर्म, साध्य-धर्म और साधन-धर्म। इन तीनों की व्याख्या ठीक-ठीक करेंगे।

सिद्ध-धर्म —— वह जो अनादिकाल से ही संसार का धारण-पोषण करता आया है, सिद्धि-धर्म कहलाता है। यह नित्य-सनातन और सत्य-पुरातन है, इसमें कोई नवीनता आने की नहीं। इसका यथावत् पालन गिने-चुने महापुरुष ही कर सकते हैं, हर कोई नहीं कर सकता। क्योंकि जब कभी धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युदय होता है, ये महात्मागण अवतरित होकर दोनों की परिमितता को ठीक करते हैं। ये अलौकिक कोटि के महापुरुष बहुजन हिताय की भावना से भू-भार-हरण की बान लेते हैं और असंख्य योनि-सम्प्रदाय के दुःखों की निवृत्ति के लिए स्कन्धों पर अथक भार वहन करते हैं। ये अपने अतीत कर्मों के अनुसार जन्म नहीं लेते, न तो माया की विमोहन-शक्ति से ही प्रभावित होते हैं, अभिप्राय यह कि अशृङ्खलित होते हैं। सत्व, रज और तमोगुण का प्रभाव इनसे सुदूर रहता है। सामान्य व्यक्तियों में ऐसी बात नहीं है। वे गुणों के अनुसार अनुवर्तन करते हैं और बद्धजीव कहलाते हैं। इनकी स्वतन्त्रता कुछ नहीं रहती। अपने प्रारब्ध अर्थात् कर्म-फलों के अनुसार ही चलने के लिए विवश रहते हैं।

साध्य-धर्म —— वेद, स्मृतियों के बताए नियमों के अनुकूल चलकर अर्जित जो पुण्य-राशी है, वह साध्य-धर्म के अन्तर्गत आती है।

साधन-धर्म —— साध्य-धर्म के अनुसार क्रियमाण कार्य ही साधन-धर्म की संज्ञा के योग्य हैं। समष्टि और व्यष्टि की उपयोगिता-भेद से इन्हें दो भागों में पृथक् करते हैं। समष्टि की उपयोगिता वाली धर्म-विधि पुनः त्रिविध रूप से जानी जाती है— शारीरिक, वाचिक और मानसिक। पवित्रता, परोपकार, अहिंसा, स्वच्छता, अस्तेय, निर्बलों की रक्षा, सेव्यों-अतिथियों की सेवा आदि शारीरिक धर्म कहे जाते हैं। वाणी में सत्यता, मृदुता, सरलता तथाविध वाणी द्वारा ईश्वर वेदानुगान इत्यादि वाचिक धर्म कहलाते हैं। सन्तोष, श्रद्धा, सत्यता, शुद्धता, एकाग्रता, एकाकी-भक्ति-भाव, निःस्वार्थता, नम्रता, दया, प्रेम इत्यादि मानसिक-धर्म कहे जाते हैं। यह सामान्य-धर्म सभी वर्णाश्रमों, देशों और जातियों के लिए समान उपयोगी हैं। यह देश और जाति के भेद से भिन्नता को नहीं प्राप्त होता है।

विशेष-धर्म —— यह काल, युग, स्थान, परिस्थिति लिंग, आयु,सौभाग्य और दुर्भाग्य तथा वर्णाश्रमों की पृथकता के अनुसार बदलता रहता है। इसलिए यह धर्म किसी दो स्थल में सम नहीं देखा जाता। एक के लिए जो पुण्य के रूप में है, वही दूसरे के लिए अघ हो सकता है।

१-काल अथवा युग-धर्म —— संसार की अवस्थिति को काल के अनुसार चार भागों में विभक्त किया गया है — कृत-युग अथवा सत्य-युग, त्रेता-युग, द्वापर-युग तथा कलि-युग। ध्यानाभ्यास सत्य-युग का धर्म कहलाता है। यज्ञयागादि त्रेता-युग का धर्म

बतलाया गया है। ईश्वराराधन को द्वापर-युग-धर्म कहते हैं। और कलि-काल के लिए हरि-नाम-संकीर्तन मुख्य है।

जैसे मनुष्य बचपन से बुढ़ापे तक के अवस्थान्तरों को प्राप्त होता है, वैसे ही यह धर्म भी समय के अनुसार अवस्थान्तरों को प्राप्त करता है। यही कारण है कि हम एक ही देश में धर्मों को बदलते हुए देखते हैं। सत्य-युग के लोग सत्यवादी, शुद्ध और सात्त्विक जीवन व्यतीत करते थे। कारण यह था कि सत्यत्व के गूढ़ रहस्य को यथावत् समझ लेते थे, और उन पर मनन भी ठीक कर लेते थे। सत्य-युग में वेद की प्रमाणिकता तथा प्रधानता थी। काल के परिवर्तन के अनुसार ज्यों-ज्यों लोग पतन की ओर अग्रसर होने लगे, वेदों के रहस्य को समझना कठिन सा होता गया और वैदिक धर्म सबके लिए दुर्बोध सा होता गया। त्रेता-युग के साथ ही वेदों में परिवर्तन सा हुआ, कहने का अभिप्राय यह कि वैदिक सत्य ने स्थूलता अङ्गीकार करली। वेदों का स्थूल होना—यही है कि तत्स्थान में यज्ञयागादि की प्रधानता हो चली और स्मृतियाँ ही प्रामाणिक मानी जाने लगीं। वेदों के बताए धर्म स्मृतियों में स्थूल रूप से आ गए। वैसे स्मृतियाँ कहते हैं उन्हें जिनमें जीवन से मरण पर्यन्त की समग्र जीवितव्य विधियाँ संचित हों। द्वापर-युग में यही धर्म और भी स्थूलतर सा हो गया और स्मृतियों की मान्यता भी जाती रही। इस युग में राम, कृष्ण आदि प्रतिमाओं की उपासना-पद्धति चल पड़ी। स्मृतियों के जो सिद्धान्त थे, वे स्थूल रूप में पुराणों में परिणत हो चुके। तत्काल पुराणों की हर विशेषता समझी जाने लगी। कालानुक्रम के अनुसार ये प्रतिमोपासनायें भी गूढ़ता से अवच्छिन्न होने लगीं। हमारी बुद्धि में इतनी भी क्षमता नहीं रही कि हम इन उपासनाओं के रहस्य को समझ सकें। तब, कलि-युग में ईश्वर-नाम-कीर्तन की सहज

विधि बताई गई। चलो, यही अच्छा रहा जिसमें कठिनाइयाँ कम से कम हो गईं।

२-कुल-धर्म—हर एक कुल के अनुसार यह विभिन्न प्रकार का हुआ करता है। कुछ पारंपरिक देवी-देवताओं की आराधना ही कुल-धर्म के अन्तर्गत है। इसके अतिरिक्त दीनों-दरिद्रों की देख-रेख, श्राद्ध कार्य इत्यादि भी कुल धर्म के अनुसार ही हैं।

३-देश-धर्म—प्रत्येक देश का धर्म अपने प्रकार का होता है। किसी के मत में राजनीति, किसी के अनुसार धर्म-कार्य, किसी के विचार से देश-सेवा, किसी की विधि से व्यापार, किसी की सुविधा से योद्धापन—ये ही देश-धर्म के विभिन्न रूप हैं। प्रकृति भी सर्वत्र सब प्रकार की हो जाती है। इसके अनुसार धर्म विविध देशों में विविध प्रकार का हो जाता है। हमें तदनुकूल अपने को वैसा बनाना पड़ता है।

४-काल-धर्म—परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन होने वाला धर्म काल-धर्म कहलाता है। जब कि व्यक्ति शुभ और सुव्यवस्थित परिस्थिति में है, उसे असत्य भाषण, व्यभिचार, चोरी इत्यादि के प्रति मनाही दी जाती है। किन्तु परिस्थिति विवश कर देती हो तो ये नियम सामीप्य छोड़ देते हैं। परिस्थिति से विवश होकर जब हम धर्म में स्वानुकूल परिवर्तन कर देते हैं तो वही धर्म काल-धर्म कहलाता है। जैसे, एक बार असत्य भाषण कर देने से देश अथवा व्यक्ति विशेष की रक्षा हो रही हो तो यों धर्म के यहाँ पर परित्याग में कोई हानि नहीं समझ कर असत्य भाषण कर देना चाहिए। यहाँ पर धर्म के परित्याग से पाप का भागी नहीं होना पड़ता है। दुर्भिक्ष के समय जब कि अन्न को मुँहमाँग नहीं मिलती है, प्राण छूटने पर उतारू हो जाते हैं; वैसी दशा में किसी के यहाँ चोरी कर ली जाये, या कहीं उच्छिष्ट भोजन प्राप्त

करके खा लिया जाय तो वैसा करने में कोई पाप या अपराध नहीं है। इन दुष्कालों में अधर्म ही हमारा धर्म हो जाता है। जब कि किसी स्त्री का पुरुष नपुन्सक हो जाता हो, और वंश परम्परा रखनी अपनी मर्यादा मानी जाती हो, ऐसे अवसर पर स्त्री अपने पति की सम्मति से यदि दूसरे पुरुष के साहचर्य से पुत्र को प्राप्त करती है तो इसमें कोई दोष या पाप नहीं है। यहाँ पर अधर्म ही धर्मता को प्राप्त कर लेता है।

५-दाम्पत्य-धर्म——स्त्री के धर्म से पुरुष का धर्म विभिन्न होता है। सामाजिक कार्य, समुचित रूप से धनार्जन तथा समुचित रूप से उनका व्यय, देश, परिवार, जाति की सेवा में उनका उपयोग, दीनों, दरिद्रों के बीच उनका अभिदान—इत्यादि जो धर्म हैं, सब पुरुष के धर्म हैं। प्रत्येक व्यक्ति में राष्ट्र-प्रेम होना चाहिए और प्रत्येक का यह कर्तव्य होना चाहिए कि राष्ट्र के लिए अपने प्राण न्यौछावर करने को प्रस्तुत रहे। देश को वैदेशिक आक्रमण से बचाये रखना, माता-पिता, पुत्र-परिवार की सुरक्षा इत्यादि पुरुष के धर्म कहे जाते हैं। एक का पुरुष जो पुत्र-परिवारों की सुरक्षा से पलायन करता है, अपने जीवन की सत्ता बनाए रखने के लिए उनके अहित की बात सोचता है, कदापि धार्मिक पुरुष नहीं है। वह व्यक्ति व्यर्थ ही जीवित है। शांतिमय जीवन-यापन करना, ईश्वर में प्रेम-भक्ति रखना, गृह की देख-रेख करना, सन्तति के प्रति स्नेह और वात्सल्य रखना, बड़ों की सेवा-शुश्रूषा करना, अतिथियों का परिचार करना, नौकरों के साथ कोमल वर्ताव करना, भिक्षुओं को भोजन देना, बीमारों की सेवा करना, समय-समय पर पर्व त्यौहारों की मान्यता रखना—ये सब स्त्रियों के धर्म गिनाये जाते हैं। सामाजिक कार्य में हस्तक्षेप करना स्त्रियों का धर्म नहीं है। उसे निर्लज्जता की सीमा पर नहीं चढ़ जाना

चाहिये। उसे पवित्रता, शुद्धता एवं पतिवर्त्य का जीवन व्यतीत करना चाहिए। उसे नम्र होना चाहिए। वह नारी जो निश्चरित्र है, व्यभिचारिणी है—प्रायः धिक्कार के योग्य है और सनातन नरकयातना ही उसे भुगतनी पड़ेगी।

६-अवस्था-धर्म —— अवस्था के अनुकूल धर्म में परिवर्तन अवश्य होता है। अवस्था के अनुसार ऋषियों ने जीवन की चार श्रेणियाँ निर्णीत कीं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। इनके अनुसार धर्म भी निर्णीत कर दिये गये हैं। आगे हम इसका विवरण करेंगे।

७-दुर्भाग्य और सौभाग्यकालीन-धर्म —— ब्राह्मणों का धर्म है कि वे वेदज्ञ हों, तथा वेद की शिक्षा औरों को देने में भी दक्ष हों, अपने से नीचे वाले तीनों वर्णों को वेद की शिक्षा देते हुए निष्पाप जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करें। जब कि परिस्थितियाँ अनुमति नहीं देती हों तो ब्राह्मण अपने ब्राह्मणत्व से च्युत होकर वाणिज्य की शरण भी ग्रहण कर सकते हैं। दुर्भाग्य में क्षत्रिय अपने क्षत्रियत्व को छोड़ कर व्यवसायादि करें तो इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। वे कृषि और अन्य कर्मों द्वारा भी अपना जीवन निर्वाह कर सकते हैं। वैश्य अपनी दुरावस्था में वैश्यत्व अर्थात् व्यवसाय कार्य को छोड़ सकता है और दास-वृत्ति द्वारा भी अपना निर्वहण कर सकता है। इस प्रकार आपत्ति की घड़ियों में स्वधर्म से तनिक च्युत होने में कोई हानि नहीं मानी जाती है।

८-वर्ण-धर्म —— हिन्दू धर्म में समाज चार वर्णों में विभक्त है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें प्रत्येक वर्ण के लिए प्रत्येक रीति का धर्म निश्चित है। ऋग्, यजुः, साम और अथर्व—इन चारों वेदों में प्रवीण होना, अन्यान्य विद्या और कला में दक्ष

होना, सत्यवादी, पवित्र होना, ईश्वर-भक्त होना ये ब्राह्मण के धर्म हैं। ब्राह्मण-बालक को चाहिए कि प्रारम्भ में ही यज्ञोपवीत संस्कार के उपरांत वेदाध्ययन के लिए गुरु के पास जाए। उसे सत्यत्व के अध्ययन, मनन और निदिध्यासन का अभ्यास करना चाहिए। उसे पच्चीस, तीस अथवा पैंतालीस वर्ष की अवस्था पर्यंत ब्रह्मचारी रहना चाहिए—फिर यदि इच्छा हो तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। यदि गार्हस्थ्य-जीवन की आकांक्षा नहीं हो तो सन्यास-जीवन को ग्रहण करने देवें। एक ब्राह्मण-युवक सद्‌गृहस्थ के घर से सदाचारिणी कन्या का वरण करे और यज्ञ-यागादि की मर्यादा बनाए रखे। जैसे एक गृहस्थ को उचित है, वैसे ही सामान्य जीवन में ही असामान्य चिन्तन की परंपरा बनाये रहे। वह सत्य की किसी प्रकार भी रक्षा करें। वह त्याग और सन्तोष-मय जीवन व्यतीत करे तथा दुरूह परिस्थितियों में भी धर्म का आलम्बन नहीं छोड़े। उसे यमों और नियमों पर नितांत आरूढ़ होना चाहिए, अर्थात् सत्य, अस्तेय, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—इन समग्र विधियों का अनुपालन करे ब्राह्मण को हमेशा सहिष्णु होना चाहिए, धर्मानुकूल आचरण करना चाहिए एवं सवर्ग में श्रद्धा होनी चाहिए। ब्राह्मण को धर्म के लिए सर्वस्व न्यौछावर करना चाहिए, उसे चारित्रिक और मानसिक विकास के लिए अथक चेष्टा करनी चाहिए। तीनों वर्णों का कुल-गुरु ब्राह्मण ही होता है, एतदर्थ ब्राह्मण को अपने मन-इन्द्रियों पर परिपूर्ण रोक होना चाहिए। ब्राह्मण को भोग की प्रवृत्ति तभी तक जारी रखनी चाहिए, जब तक कि एक या दो सन्तान की उत्पत्ति न हो चुकती हो, तदुपरान्त ब्रह्मचर्य-वृत धारण करता हुआ चले। उसे चाहिए कि वह अपनी स्त्री और अन्य स्त्रियों को बहिन के समान जाने। काया, वाचा, और मनसा में ब्रह्मचर्य का अनुपालन करे। ब्राह्मण को धन के

संचय की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए और ऐहिक जीवन से विराग होना चाहिए। यदि वह इन नियमों का परिपालन करता न हो तो वह पतित मनुष्य है।

क्षत्रिय-धर्म——शूरता के लिए क्षत्रिय धर्म की विशेषता है। शूरता, साहसिकता, धैर्य, चातुर्य, औदार्य, शासक-भावना युद्ध से पलायन न करना—ये सब क्षत्रिय के धर्म हैं। एक क्षत्रिय को युद्ध-कौशल में बड़ा प्रवीण होना चाहिए। उसे देश की रक्षा के लिए, तद्वत इतर तीनों वर्णों की रक्षा के लिए सतत् तत्पर रहना चाहिए। उसे धर्म-युद्ध के लिए कभी हिचकना नहीं चाहिए और शत्रुओं के प्रभुत्व से घबड़ाना नहीं चाहिए। उनके लिए युद्ध में लड़कर मर जाना अच्छा है, किन्तु रण से पलायन करना महान् ग्लानिकर है। क्षत्रियों को अपने अधीन शत्रुओं पर अधिक रहम भी रखना चाहिए। उसे चाहिए कि कुचले हुए पराजित शत्रुओं पर भी करुणा-पूर्ण वर्ताव करे। पराजित शत्रुओं की सन्तति और स्त्रियों को स्ववश न करे। पराजित शत्रुओं की ज़मीन-जायदाद को यों बरबाद न करे। यदि वह ऐसा करता है तो समझिए वह महान् पाप का भागी होता है और अन्त में निरयगामी होता है।

एक क्षत्रिय-बालक की आठवीं या नवीं वर्ष की अवस्था में ही यज्ञोपवीत संस्कार हो जाना चाहिए। तदनन्तर वह अध्यापक के गृह में शिक्षार्थ जाए—पच्चीस वर्ष की अवस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य का परिपालन करता हुआ अध्ययन की परिसमाप्ति करे। फिर एक सद्‌गृहस्थ की कन्या का वरण करता हुआ आदर्श जीवन को व्यतीत करे। यदि गार्हस्थ्य जीवन की आकांक्षा नहीं हो तो बेशक़ ही त्याग और वैराग्य से अभिभूषित हुआ सन्यास के पवित्र पथ पर चलना प्रारम्भ कर सकता है। यदि वह गृहस्थ-जीवन में भी रहे तो पवित्रतामय जीवन व्यतीत करे। वह व्यभिचार, अत्याचार

असत्य का भाषण न करे और ब्राह्मणों, विद्यार्थियों और सन्यासियों की सेवा करे।

राजा होने के नाते क्षत्रियों का कर्तव्य है कि वह देश की सुरक्षा करें। राजा को देश में शांति और समृद्धि के लिए उचित रूप से कर वसूल करना चाहिए। राजा का कर्तव्य है कि वह धर्म की रक्षा करता हुआ अधर्मियों को दण्ड देता रहे। वह ब्राह्मणों की रक्षा करता रहे। धर्म के कर्णधार ब्रह्मचारियों और सन्यासियों की समुचित सेवा करे। वह गरीबों और निराश्रितों को आश्रय दे। वह प्रजा में असन्तोष और त्रास का हेतु न उत्पन्न करे। वह देश और समाज में परिपूर्ण शासन-विधान लागू रखे। इन नीति-नियमों का जो उलंघन करता है, वह राजा द्वारा दण्डनीय है। राजा अपनी प्रजा का पुत्रवत् पालन करे। वह देश और प्रजा में अनिवार्य शिक्षा-पद्धति कायम रखे। वह देश में अच्छी सड़कें, निमूर्ल्य शिक्षालय आदि की सुव्यवस्था करे। कला और विज्ञान की उन्नति में यथायोग्य सहयोग दे। राजा का सुख प्रजा के ही सुख में है। यदि प्रजा अच्छी है, दयालु, सत्यवादी, सानन्द और ईश्वर से भय खाने वाली है—तो राजा को भी इसमें सुख है। इसके विपरीत यदि प्रजा दरिद्र, दुखी, बेईमान, पातकी और अपराधी है तो राजा को भी सुख का लेश नहीं मिल सकता। शासन में परिपूर्ण विधान को लागू करते हुए, सुकर्मियों को प्रोत्साहित तथा कुकर्मियों को दण्डित करते हुए ही राजा वास्तविक राजा कहलाता है और सभी पापों से मुक्त होता है। यदि राजा दुष्ट लोगों को यातना न देता हो, राज्य-शासन के नियमों को उलंघन करने वालों को सजा नहीं देता हो, तो वह राजा पाप का भागी होता है और अन्त में पतन को जाता है। क्यों कि प्रजा के दुःख-सुख का दाता राजा ही है।

वैश्य और शूद्र-धर्म —— कृषि, वाणिज्य और पशु-पालन–यह वैश्यों का धर्म है। यज्ञोपवीत संस्कार कराके वैश्य-बालक आठवीं-नवीं वर्ष की अवस्था में गुरु के समीप विद्याध्ययन के लिए जावे। अध्ययन के उपरांत वह गार्हस्थ्य-जीवन को अङ्गीकार करे। गृहस्थ होकर वह सदुपायों द्वारा वाणिज्य क्षेत्र में लाभ उठाये। वह वैध-नियमों से धन का अर्जन करे और उस धन का एक अंश दान के निमित्त वितरण करे; जैसे कि निर्मूल्य शिक्षालय के लिए प्रासाद के निर्माण में, गरीबों की सेवा में, बीमारों, जरूरतमन्दों की सेवा में, ब्राह्मणों-ब्रह्मचारियों की उपयोगिता में, सन्यासियों और राजाओं के वास्ते यह दान का द्रव्य व्यय करे। एक वैश्य को गृहस्थ जीवन में रहते हुए ईमानदार, सत्यवादी, दयालु, ईश्वर-भक्त और भयभीत रहने वाला होना चाहिए। उसे पावित्र्य की मर्यादा रखनी चाहिए और व्यभिचार कदापि नहीं करना चाहिए। उसे देश और जाति की समृद्धि के लिए नए रास्ते ढूँढ निकालने चाहियें। उसे अपने राष्ट्र के प्रति अगाध प्रेम होना चाहिए। शूद्रों का धर्म इतना ही मात्र है कि वह कृषि एवं पशुपालन करें तथा ब्राह्मणों, राजाओं, क्षत्रियों और वैश्यों की सेवा करें।

पुरुष व स्त्री, चाहे किसी राष्ट्र, मत, रीति व परम्परा के हों, किन्तु स्वकर्म में रत हुए मृत्यु के उपरांत तदनुकूल फल को प्राप्त करते हैं। शुभ कर्मों के फलस्वरूप व्यक्ति शुभ मनुष्य-योनि में जन्म को प्राप्त होता है। जहाँ समुचित जाति-पाँति का सम्बन्ध, योग्य देश और समाज, विद्या और वैभव, धन-धान्य, कुल और प्रथा सुलभ होती है। तदनुरूप ही जो दुष्कर्म कर आए हैं, उन्हें अधोयोनि प्राप्त होती है; जहाँ समुचित देश और समाज, सभ्यता और प्रगति दुर्लभ होती है। नीच कुल के अतिरिक्त विद्या-वैभव एवं सम्प्रदाय का नितान्त अभाव रहता है और आयु भी स्वल्प

मिलती है। जाति का विभाजन भी अतीत के कर्मों के अनुसार ही हुआ है। अतीत के कर्म, आचरण, व्यवहार के अनुकूल जाति का वरण हमें इस जन्म में मिलता है। पुराचीन आर्य-सभ्यता सुदृढ़ नींव पर अवस्थित है। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म का यथावत् पालन करता रहे तथा जाति-रीति और प्रधान गुणों के अनुसार अनुवर्तन करे तो उन व्यक्तियों से बना हुआ देश भी समृद्धिशाली होगा। भारत में यह प्रथा बहुकाल से प्रचलित थी। मध्ययुग में सबका विशृङ्खल हो गया। पहले केवल क्षत्रिय ही युद्ध में जाया करते थे। इसके अतिरिक्त तीनों जाति स्वधर्म के अनुसार ही रहा करती थी। पहले जब कि युद्ध हुआ करते थे तो समग्र देश और समाज प्रकम्पित नहीं होते थे, जैसा कि आज के युग में देखने में आता है। आज तो युद्ध में सारा देश ही संलग्न हो जाता है और सारे देश पर ही आपत्ति आ टूटती है। पहले वैसा नहीं था। युद्ध करने का कौशल किसी जाति विशेष के सुपुर्द था और वे ही इसकी सम्भाल करते थे।

९-वर्णाश्रम-धर्म —— हिन्दू-धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र इन चारों वर्णों में से प्रत्येक के लिए ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम बनाए गए हैं।

ब्रह्मचारी आश्रम-धर्म —— ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य किसी की भी बाल्यकालीन यज्ञोपवीत-विधि जब हो चुकती है, वह द्विज कहाता है, अर्थात् दूसरी बार जन्म को ग्रहण किया हुआ माना जाता है। इसके अनन्तर वह ब्रह्मचारी होकर गुरु के समीप विद्याध्ययन के लिए जाने का अधिकारी होता है। ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह बड़ी नम्रता पूर्वक गुरु की सन्निधि में जाय। वहाँ जाकर, जब कि वह गुरु के परिवार का एक अङ्ग हो जाता है, तदनन्तर उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह गुरु की

समग्र आज्ञाओं का पालन करे और उनकी प्रसन्नता का हेतु हुआ करे। गुरु की स्त्री और उनके लड़कों को वह माँ और अपना बन्धु ही माने। ब्रह्मचर्यावस्था में ही शिष्य को उचित है कि वह सद्गुणों का प्रचुर अर्जन कर लेवे। उसे चाहिए कि वह मन और इन्द्रियों पर खूब प्रभुत्व कर ले। प्रत्येक स्त्री को बहिन और माँ की नाईं ही जाने। उसे किसी भी दशा में ब्रह्मचर्य का उलंघन नहीं करना चाहिए और व्यभिचार का विचार स्वप्न में भी नहीं आने देना चाहिए। एक ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि वह सन्तोष की सीख को सीखता हुआ जीवन यापन करे। वह नित्यप्रति प्रातः काल शीत जल से स्नान करे, पितरों को पिण्ड प्रदान करे, ऋषियों और देवों की स्तुति करे। एक ब्रह्मचारी को उचित है कि मधु, मांस, चन्दन, पुष्प, माला, सुगन्धित द्रव्य, मादक पदार्थ, धूम्र-पान और व्यभिचार से वञ्चित रहे। उसे अपने शरीर को सजाना नहीं चाहिए और अच्छे वस्त्र, जूते और आभूषण नहीं पहनने चाहिये। एक ब्रह्मचारी को काम,क्रोध,लोभ,मोह,मद और मात्सर्य का स्वामी होना चाहिए। ब्रह्मचारी को हमेशा ईश्वर में प्रीति रखने वाला और भीति रखने वाला होना चाहिए। उसे सत्य सम्भाषण करना चाहिए, सत्य पर अवलंबित रहना चाहिए। सभी प्राणियों को प्यार करना चाहिए। किसी के मध्य दोष ढूँढने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। स्त्रियों के रहन-सहन का निरीक्षण नहीं करना चाहिए। रूक्ष शय्या पर सोना चाहिए, कोमल पर कदापि नहीं। अकेले ही सोना चाहिए, किसी के साथ कदापि नहीं सोना चाहिए, आभूषण आदि नहीं पहनने चाहिए, सिनेमा उपन्यास आदि में रुचि नहीं होनी चाहिए, संगीत और प्रेम सम्बन्धी वर्ताओं से परिमुक्त होना चाहिए। कामुक कार्य की ओर अथवा चित्र की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। ब्रह्मचारी को शयन के पूर्व अवश्य ही लघुशङ्का करनी चाहिए और तदुपरांत

शीत जल से इन्द्रिय को अवश्य धो लेनी चाहिए। अधिक खाना बहुत ही वर्जित है। ब्रह्मचारी को उत्तेजक औषधियों तथा उष्णो-त्तेजक आहारों से बचना चाहिए। वैसे ही लघुशंकादि चेष्टाओं को नहीं दबाना चाहिए। कौपीन हमेशा पहनना चाहिए। बिस्तरे पर जाने और वहाँ से उठने-काल में ईश्वर का स्मरण अवश्य करना चाहिए। उसे व्यभिचारियों, व्यभिचारिणियों के पास जाना व वार्ता कदापि न करना चाहिए। किसी भी विवस्त्र स्त्री को कभी नहीं देखना चाहिए, न तो किसी पशु-पक्षियों का मैथुन ही देखना चाहिए। ब्रह्मचारी को हमेशा माता-पिता, बड़े भाई-बहिनों, उच्च कक्षा में अध्येता छात्रों तथा परिवार के अग्रजों के प्रति नम्र रहना चाहिए। ब्रह्मचारी को इधर-उधर अनर्गल प्रलाप नहीं करना चाहिए, न तो शिक्षक के सम्मुख बेढङ्ग ही बैठना चाहिए। जब कि शिक्षक महोदय बैठने के लिए न कहें तब तक ब्रह्मचारी का कर्तव्य है कि वह यों ही खड़ा रहे। ये सब कुछ ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में विधान हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम वह आधार-शिला है, जिस पर भावी तीन आश्रम अधिस्थित हैं। इसमें सफलता और नियमितता का अर्थ इतर तीनों में भी सफलता और नियमितता बरती जा सकेगी। किसी प्रकार की भौतिक और आध्यात्मिक सफलता ब्रह्मचर्य के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। एक परिपक्व ब्रह्मचर्य के द्वारा संसार और संसार से भिन्न की कोई भी वस्तु अपरिप्राप्य नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सूर्य की तरह चमकने वाला ब्रह्मचारी ही होता है। कठोर नियमितता के लिए ही ब्रह्मचर्य की अवस्था है। यह ब्रह्मचर्य का आश्रम ही है जब कि मनुष्य स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन और स्वस्थ संकल्प-शक्ति का निर्माण कर लेता है। जो ब्रह्मचर्य-आश्रम का ठीक-ठीक पालन नहीं करता, यह समझिए कि वह जीवन के सब मूल्य को यों ही लुटा देता है। वैसा ही व्यक्ति दुःख-द्वन्द्वों का

शिकार होता है। इसलिए उत्पाती मन और इन्द्रियों के नियन्त्रण के मिस ही ब्रह्मचर्य के कठोर नियम बनाये गये हैं। अधिक खतरे की अवस्था है हमारे दस से तीस वर्ष के भीतर की। जो भी गुणावगुण इस अवस्था में आरोपित हो चुकते हैं, उनकी जड़ हिलाना बाद में समस्या बन जाती है। इसलिए हमें उचित है कि अच्छे गुणों के ही बीज इस अवस्था में बोयें कि जिससे भविष्य सुखदायी हो।

गृहस्थ-धर्म—— प्रथम श्रेणी का ब्रह्मचर्य तो यह है कि कुल पैंतालीस वर्ष की अवस्था पर्यंत ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया जाए। द्वितीय श्रेणी का ब्रह्मचर्य वह है कि पैंतीस वर्ष पर्यंत ब्रह्मचर्य की अवधि हो। तृतीय श्रेणी का ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं कि पच्चीस वर्ष की अवस्था में इसकी इति श्री करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाया जाये। यों तृतीय कोटि के ब्रह्मचर्य को निभाते हुए जबकि शिष्य गुरु की सन्निधि से वापस आता है तो उसका कर्तव्य है कि वह गार्हस्थ्य को अङ्गीकार करे। यदि ईश्वर की कृपा से उस में वैराग्योदय हो चुका है और यदि वह सत्यत्व के साक्षात्कार की ओर मुड़ना चाहता है तो उसका श्रेष्ठ कर्तव्य है कि सीधे ही सन्यास धर्म को अङ्गीकार करता हुआ तपश्चर्यामय जीवन बिताए। ऐसे विद्यार्थी का कर्तव्य है कि अध्ययन-अध्यापन करता रहे, ग्रन्थों का पुनरुद्धार करता रहे तथा ध्यान समाधि में तत्पर रहे। परन्तु जो गृहस्थ-धर्म स्वीकार करने की इच्छा वाला हो उसका कर्तव्य है कि वह गुरु से अनुमति ले बिदा लेते हुए गुरु की पुष्प-चन्दनादि से अर्चना करे, दक्षिणास्वरूप धन-धान्य, वस्त्र, गौ इत्यादि भेंट करे। अपनी लियाकत के अनुसार गुरु को दक्षिणा देता हुआ, उन्हें प्रसन्न करता हुआ, उनसे विदाई ले। गुरु को भी उचित है कि वह शिष्य की विदाई पर प्रसन्न हो और उसे आशीर्वाद देता हुआ गृहस्थ-धर्म के आदर्शों का उपदेश करे।

तदनन्तर सब कुछ श्रद्धा-पूर्वक श्रवण करता हुआ शिष्य गृह को वापस आवे और गुरु की अर्चना मन में करने का प्रण ठान ले।

वैवाहिक-धर्म —— गृहस्थ-धर्म के अनुकूल एक युवक का कर्तव्य है कि वह पवित्रमयी किसी सुकन्या का पाणिग्रहण करे। विवाह का उद्देश्य यही होना चाहिए कि दम्पति के द्वारा यज्ञ-यागादि का प्रचलन बना रहे और वे योग्य गार्हस्थ्य की नींव रख सकें। यज्ञ-हवनादि का प्रचलन बिना पत्नी के साहचर्य से नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त विवाह का उद्देश्य इन्द्रियों की लोलुपता के मिस नहीं होना चाहिए, क्योंकि यह तो महान् पाप का हेतु होगा। धर्मानुकूल विवाहित दम्पति को यह अनुमति नहीं है कि वे स्वतन्त्रता पूर्वक इन्द्रिय व्यापार करें। ऋतु-धर्म के अनुसार ही दोनों, केवल सन्तति की उत्पत्ति के लिए संयोग कर सकते हैं; यों व्यर्थ ही खुजलाहट के लिए नहीं। ऐसा व्यक्ति गृहस्थ होकर भी ब्रह्मचारी ही है। विवाहित दम्पति के संयोग के लिए निश्चित् दिन होता है, मासिक धर्म के चतुर्थ और पन्द्रह दिन के बीच में। संयोग का वह दिन भी सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, संक्रांति एकादशी आदि का दिन नहीं होना चाहिए। वह संयोग किसी मन्दिर, जनता का कोई स्थान, राजमहल, सड़क का किनारा, चिकित्सालय, गुरु अथवा किसी ब्रह्मचारी के गृह में नहीं करना चाहिए। प्रातःकाल, सायंकाल, दिवाकाल आदि निषिद्ध कालों में संयोग नहीं करना चाहिए। शरीर की अस्वस्थता में, मन की विक्षिप्तता में, किसी औषधि के सेवन के बाद, परिश्रम के बाद, थकावट के बाद, उपवास के समय, भोजन के उपरांत, किसी पूज्य अथवा बन्धु के बिस्तरे पर, लघुशंकादि प्राकृतिक विधियों को रोक कर, दुःख या क्रोध के आवेग में, किसी व्यक्ति के सम्मुख, तीर्थ-यात्रा में संयोग करना बुरा माना गया है। गर्भिणी स्त्री के साथ

कदापि संयोग नहीं करना चाहिए। एक विवाहित पुरुष इन विधियों का यथावत् पालन करे नहीं तो वह एक पतित मानव की गणना में लिया जायेगा।

विवाहित दम्पति का उद्देश्य केवल इन्द्रिय-जन्य-आनन्द ही नहीं चाहिए, बल्कि मोक्ष के लिए उन्हें चेष्टा करना अभिवांछित है। दाम्पत्य जीवन ही वह जीवन है जिसे वास्तविक जीवन की संज्ञा दी जा सकती है। दम्पति का कर्तव्य है कि वे दामपत्य-धर्म का प्रचुर अवलम्बन करें। धर्म को लक्ष्य का मार्ग समझते हुए वे सदा उस पर आरूढ़ रहें, तदर्थ ही धन का अर्जन भी करें, जीवन का आनन्द भी लें और अन्त में मोक्ष को भी प्राप्त करें। धर्म,अर्थ और काम के उपभोग द्वारा वे लक्ष्य के मिस यथेष्ट प्रयत्न करें। उनका लक्ष्य मोक्ष के अतिरिक्त कुछ और नहीं होना चाहिए। ये ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानव-जीवन के पुरुषार्थ हैं। यदि दंपति इनका समुचित अनुसरण करें, तभी जीवन की सार्थकता बनी रहती है, अन्यथा क्या ?

पत्नी के प्रति पति का व्यवहार कैसा होना चाहिए—यदि पति अपना कल्याण चाहता होवे तो उसका कर्तव्य कि वह पत्नी के प्रति यथेष्ट प्रेमपूर्ण वर्ताव करे। कहते हैं, जहाँ नारी संमानित होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं। किन्तु जहाँ नारी अवहेलना की पात्र बनती है, वहाँ किसी यज्ञ-यागादि का सुफल प्राप्त नहीं होता और वह लोक भी नरक के तुल्य हो जाता है। जहाँ नारी प्रताड़ित होती है, वहाँ समग्र परिवार ही पतित रहता है,समग्र विभूतियाँ निष्फल रहती हैं। जहाँ नारी प्रसन्न रहती है। वह परिवार भी फूलता-फलता है और वह वंश भी ऐश्वर्यशाली होता है। जिस परिवार में दंपति परस्पर प्रसन्न रहते हैं, वहाँ देखा जाता है कि एकच्छत्र शांति ही विराजती होती है, कदापि तकरार

से गृह गुञ्जायमान नहीं होता। योग्य सन्तति उत्पादन, समुचित सेवा, श्रेष्ठ वैवाहिक आनन्द, गार्हस्थ्य-धर्म की सुरक्षा, पितरों का तथा अपना स्वर्गीय आनन्द—सब सुयोग्य स्त्री पर ही निर्भर रहते हैं। इसलिए आजीवन दंपति में पारस्परिक सुदृढ़ प्रेम का होना नितांत आवश्यक है। यही दंपति के लिए कठिनतम विधान है। सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से पत्नी को प्रसन्न रखना, यह पति का कर्तव्य है। उसके प्रति सुन्दर और सौम्य वचन बोलना पति का कर्तव्य है। कदापि कलहायमान रहना, या पत्नी के प्रति डाँट-फटकार के शब्द निकालना ही अयोग्य है। सुन्दर और सौम्य बर्ताव करना पति का पहला कर्तव्य है। यह भी चाहिए कि पत्नी की देख-रेख सब प्रकार से हो। पुरुष का कर्तव्य है कि अपना जीवन भी भेंट करके पत्नी की सब प्रकार की रक्षा करे, उसे सभी प्रकार की असुविधा से मुक्त रखे। एक का पुरुष जो पत्नी की सुरक्षा में हीला-हवाला करता है, अवश्य ही नरकगामी होता है। अपनी पत्नी में दिव्य माँ का दर्शन करना पति का कर्तव्य होना चाहिए। उसका प्रेम साधारण इन्द्रियजन्य आनन्द के लिए नहीं किन्तु नित्य आत्मा के लिए होना चाहिए। पुरुष को सम्बन्ध (सम्भोग) स्त्री के साथ तभी तक होना चाहिए। जब तक कि वह एक या दो सन्तति की उत्पत्ति नहीं किए लेता है, फिर वह अपनी स्त्री को माँ के सदृश समझे तथा भोग की तृष्णा सतत् छोड़ दे।

अपनी सन्तति के प्रति पिता का कर्तव्य—

सन्तान के प्रति पिता का प्रमुख कर्तव्य और क्या, बस यही है कि वह उन्हें समुचित रीति से शिक्षित करदे, योग्य करदे, वास्तविक स्त्री और पुरुष बना दे, सच्चरित्रता और सुदृढ़ संकल्प-शक्ति का पाठ पढ़ा दे। ऐसे पुत्र-पुत्रियाँ ही देश में आश्चर्यमय कार्य कर सकेंगी।

माता-पिता जो धनादि संग्रह करने में लगे रहते हैं और संतति को योग्य शिक्षा के बिना छोड़ देते हैं,वे एक प्रकार से महान् अपराध करते हैं, और क्या तो, उन्हें नारकीय यातना के भागीदार बनाते हैं। अधिक से अधिक वे ये ही करेंगे कि मरने के अनन्तर इनके लिए यथेष्ट धन छोड़ जायेंगे। परन्तु धन के द्वारा वास्तविक शांति प्राप्त कभी होती नहीं बल्कि उन्हें प्राप्त कर लड़के बाद में बिगड़ ही जाते हैं। इसलिए माता-पिता का कर्तव्य होना चाहिए कि वे लड़के-लड़कियों को योग्य रूप से शिक्षित कर दें, उन्हें भाग्योपार्जन के योग्य बनादें, संसार में विचरण के लिए निर्भीक बनादें, तो उनका कर्तव्य समाप्त हो चुकेगा। इसलिए पिता का कर्तव्य होता है कि शिक्षा की ओर सन्तति की प्रवृत्ति करें न कि धन की ओर,उनका यह भी कर्तव्य है कि बच्चों के प्रति यथेष्ट प्यार दें, उनके स्वास्थ्य और आरोग्य पर भी यथेष्ट ध्यान रखें और साथ ही सन्मार्ग से च्युत न होने दें। यदि बालक कुमार्ग पर पैर भी रखता हो तो उसे दण्ड न दें, बल्कि उसे आश्वासन दें। पिता का कर्तव्य है कि वह बच्चों को बुरी आदतों से बचावे। उसका कर्तव्य है कि बच्चों के योग्य आहार-विहारादि के प्रबन्ध में ढिलाई न दें। बच्चों की कायिक व मानसिक सुविधा के लिए अथक परिश्रम करें। पिता की ही आँख से बालक होनहार हो सकता है। अनन्तर, पिता अपनी जिम्मेदारी पुत्रों के हाथ में सौंप देवे। वह बालिकाओं को भी पुचकार दे और उन्हें योग्य बालिका बनने की प्रेरणा दे। पिता को चाहिए कि विवाह योग्य होने तक वह अपनी पुत्री का परिपालन करे। तदनन्तर किसी सुन्दर एवं सच्चरित्र युवक के साथ उसका विवाह कर दे। उसे चाहिए कि विवाह में अपनी पुत्री को वस्त्र, आभूषण धनादि देकर उसे प्रसन्न करे।

पत्नी का कर्तव्य —— राष्ट्र की उन्नति वहाँ की बहुसंख्यक अच्छी माताओं पर निर्भर करती है। जिस देश की महिलाएँ

शिक्षित एवं पतिव्रता होती हुई संपूजित हैं, वही देश काल को पाकर सम्मुन्नत होता है। वही देश भाग्योदय से सम्पन्न होता है। जहाँ की नारियाँ पतित और व्यभिचारिणी होती हैं, वहाँ परिणाम वैसे ही विपरीत होता है। नैतिकता ही वह आधार-शिला है जिस पर देश की माँगलिकता और उन्नति निर्भर होती है। नैतिकता में मूलभूत हेतु है-नारी। आज का शिशु ही भावी पिता होता है और उसके निर्माण में माता का उत्तरदायित्व ही सबसे बढ़कर है। माता के चरित्र का प्रभाव शिशुओं पर बहुधा पड़ता है। माता के वचनों में शिशु को कितना स्नेह होता है। माता की कार्य-विधि का अनुकरण शिशु का मस्तिष्क सदा कर लेता है। माता जो कुछ भी करती-धरती व विचारती है, उन सबका प्रभाव शिशु के मस्तिष्क पर पड़ता है—धीरे-धीरे और काल पाकर। कहने का अभिप्राय यह है कि माता के चरित्र पर ही शिशु का भावी-जीवन अवलंबित है। और आदर्श माताएँ देश की भाग्य-विधायिकाएँ हैं। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि और महात्माओं ने स्त्रियों से शिक्षा पाई है और यशस्वी हुये हैं।

इसलिए आदर्श महिलाओं का कर्तव्य यही निर्णीत होता है कि वे राष्ट्र के बाहरी काम-धन्धों में भाग न लेकर आदर्श-चरित्र-पूर्ण गार्हस्थ्य जीवन को व्यतीत करें। ऐसी स्त्रियों की संख्या बहुत कम है, जो कि बाहरी काम-धन्धों में भाग लेकर सफलता प्राप्त करती हैं, अन्यथा असफल और पतित ही होती हैं। जो वस्तु पुरुषों के लिए अमृत-स्वरूप है वही वस्तु स्त्रियों के लिए गरल के सदृश है। सौन्दर्य से चरित्र की कीमत बहुत है; क्योंकि नम्रता, पवित्रता, मधुरता और चरित्र नारी के स्वभाविक भूषण हैं। जैसे जाति व्यवस्था की देश में महती आवश्यकता है, वैसे ही वर्णव्यवस्था और धर्मव्यवस्था भी देश-उत्कर्ष के हेतु अनिवार्य है। सनातन धर्म के ये उपदेश हमारी प्रगति के पथ-प्रदर्शक हैं। जिनमें इनका

अभाव है, वह नारी अपने नारीत्व से च्युत मानी जाती है। नारी को गृह की गृहिणी-सुलभ उपदेशों को देकर उसे हम परतंत्रता में नहीं डालते हैं, किन्तु उसे उसके वास्तविक धर्म से परिचित कराते हैं। हिन्दुत्व ने नारी के ये धर्म बताकर उसकी मर्यादा और सम्मान-विधि में हाथ नहीं बटाया है, पर यह बताया है कि नारी गृह की स्वामिनी है। मां सबसे पवित्र तथा संपूजित कही जाती है। आदर्श माता गुरु की नाईं है और हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य यही होता है कि हम उसकी सेवा-शुश्रूषा करें और उसका आज्ञानु-पालन भी। शास्त्रों में कहा है कि गौण गुरु से मुख्य गुरु दस गुना अधिक पूजनीय है, उससे सौ गुना अधिक पूज-नीय है पिता और पिता से सहस्त्र गुना अधिक पूजनीय है मां। अतः आदर्श माता को समाज में सबसे बड़ा स्थान प्राप्त है। क्या कोई भी अपनी व्यक्तिगत निधि का इतना अपव्यय करके शिशु का लालन-पालन कर सकता है, जितना मां करती है ? क्या घर के सदृश शांति और सुख को कोई बुरा कह सकता है ? हम यह कह नहीं सकते, कितनी शांति विराजित है एक श्रेष्ठ घर में। दिन भर के थके माँदे जाकर घर में कितना मोद, कितना शान्ति को प्राप्त करते हैं। कौन वह अभागा होगा जो घर की प्रमुख पवित्रता में भाग न लेगा। राष्ट्र की उन्नति में माता के बटाए हाथ का क्या प्रमाण है ?

पत्नी का मुख्य कर्तव्य है पातिव्रत्य। उसे काया, वाचा और मनसा द्वारा पातिव्रत्य ग्रहण करना चाहिए। शास्त्र-विरुद्ध किसी प्रकार का कामुक सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। उसे व्यभिचार की चर्चा कदापि न सुननी या बोलनी ही चाहिए। किसी अन्य पुरुष को कुदृष्टि से देखना या घूरना नितान्त ही बुरा है। उसे अपने पति का ध्यान करना चाहिए। उसका आज्ञानुकरण करना चाहिए। उसे ईश्वर के समकक्ष मानना चाहिए। उसकी तन-मन से सेवा

करनी चाहिए। पति के ऊपर क्रुद्ध होना या रुष्ट होना सर्वथा वर्जित है। उसकी सब प्रकार से देख-रेख करना पत्नी का कर्तव्य है। पति के पास बेढङ्ग से बैठना सर्वथा बुरा है, उसे उत्तेजित करना सर्वथा बुरा है। उसका मन,वाणी और कार्य पर प्रचुर नियंत्रण होना चाहिए। अपने पति से प्रेमपूर्वक वार्तालाप करना चाहिए। पत्नी का कर्तव्य है कि वह पति के जागने के पहले ही जग जाए और ईश्वर का चिन्तन करे। प्रातःकाल के पूर्व ही उसे पति-प्रभृति गुरुजनों की सेवा के लिए तैयार हो जाना चाहिए। गृहिणी का कर्तव्य है कि गुरुजनों की श्रद्धा सहित सेवा-शुश्रूषा करे। गृह में नौकरों के रहते हुए भी पत्नी का कर्तव्य है कि वह गुरुजनों की स्वयं सेवा करे। गृह के वयस्क लोगों, वृद्धों तथा बीमारों के प्रति कृपालु होना पत्नी का कर्तव्य है। वह सास, श्वसुर और देवरों को माता-पिता तथा भाई समझ कर श्रद्धा और प्यार करे। उसे सबके प्रति दयालु और नम्र होना चाहिए। उसे गृह के नौकरों-चाकरों से झगड़ालू नहीं होना चाहिए। उसे नौकरों के प्रति भी सन्तान की तरह वर्ताव करना चाहिए। गृहिणी का धर्म है कि वह गृह के वातावरण में शान्ति, शुद्धि और पवित्रता का संचार करे। उसे गृह की सब कुछ देख-भाल करनी चाहिए। भोजनादि नष्ट न होवें यह भी ध्यान रखना चाहिए। गृह की स्वच्छता, पवित्रता पर ध्यान रखना पत्नी का ही कर्तव्य है। आये हुए भिक्षुओं को भी पूछ-ताछ कर लेनी चाहिए। सबको कुछ न कुछ देना पत्नी का कर्तव्य है। उसे अतिथि की सेवा करनी चाहिए तथा उनके लिए आहार-विहारादि की सुव्यवस्था करनी चाहिए। गृहिणी का कर्तव्य है कि वह पास-पड़ोस के लोगों से सद्व्यवहार करे, तथा दीन-दुखियों की भली-भाँति सेवा करे। उसे स्वार्थपरक नहींहोना चाहिए। उसे सबके प्रति करुणा एवं श्रद्धापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। सहधर्मिणी वास्तव में शान्तिदायिनी औषधि की नाईं

होती है, वह पति के लिए सान्त्वना की तरह होती है। जब पति दिन भर की थकाई के बाद गृह को वापस आता है, तब पत्नी शान्ति के संचार द्वारा उसे प्रसन्न करती है। पत्नी को चाहिए कि वह पति के सुख-दुःख की भागिनी बने और पति की प्रमुख परामर्श-दातृ बने। उसके शुद्ध-सात्विक, प्रेम-भक्ति और चरित्र-बल से पति का प्रसन्न होना अनिवार्य है। वह पति की पथ-प्रदर्शिका होकर भी रहे। पति के चरित्र में दूषण देखकर उसे अनुकूल चेष्टा वाला बनाना पत्नी का ही कर्तव्य है। सुख-दुख में सदा साथ देना ही वास्तविक दाम्पत्य है। तभी वे दोनों परस्पर पूरक कहे जा सकते हैं।

एक गृहस्थ का धर्म —— दम्पति का यह कर्तव्य है कि वे कुलोचित यज्ञ-यागादि की उपेक्षा न करें। यज्ञ पाँच प्रकार के गिनाये जाते हैं—देव-यज्ञ, जिसमें देवताओं को हविदान किया जाता है; ब्रह्म-यज्ञ—जिसका शास्त्रादि अध्ययन से अर्थ है; पितृ-यज्ञ—जलार्पण करना तथा पितरों को शुभ विचारों के सन्देश भेजना; नृयज्ञ—दीन-दुखियों को खिलाना-पिलाना; भूत-यज्ञ—घरेलू पशु-पक्षियों को खिलाना। एक गृहस्थ उखल, चक्की, चूल्हा, घड़ा, झाड़ू के प्रयोग में असंख्य जीवाणुओं का वध करता है। इन पाँच यज्ञों के द्वारा वह पाँचों पापों से मुक्त हो जाता है। एक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह कृषि, वाणिज्य प्रभृति स्वकार्य में ढिलाई न आने दे—निरन्तर करता रहे। वह उचित रीति से ही धन का संग्रह करे। इस प्रकार के अर्जित धन से वह पिता, माता, पुत्र, पत्नी आदि परिवार की सुरक्षा करे। अपने धन के एक अंश को दान के लिए व्यय करे, अर्थात् शिक्षा-प्रसार के निमित्त; ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, सन्यासियों की सेवा के निमित्त; दीनों-दुखियों, गरीबों, अनाथों की सहायता के निमित्त; मन्दिर, धर्मशाला, बावड़ी इत्यादि के निर्माण के निमित्त व्यय करे। एक

गृहस्थ तीनों अर्थात् ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और सन्यासी इन सभी का आश्रय-दाता है। वह गृहस्थ जो दीन-दुखियों और अनाथों के प्रति करुणा-भाव नहीं रखता, जो कृपण, कठोर और कुटिल है, कभी भी धर्मात्मा गृहस्थ नहीं कहा जा सकता। वह पातकी और अकुलीन है। ऐसा व्यक्ति अपने धर्म से च्युत समझा जाता है और वह विनाश के काल गर्त में जाता है। एक गृहस्थ को हमेशा राज-भक्त एवं देश-भक्त होना चाहिए तथा जाति और समाज के लिए जीवन-बलि देने पर भी तत्पर रहना चाहिए।

यदि प्रत्येक गृहस्थ अपने धर्मों का यथावत् पालन करता है, तो फिर आधुनिक साम्यवाद की आवश्यकता नहीं रहेगी। साम्यवाद का ध्येय तो रक्त-पात से सम्मिलित है, किन्तु धर्म-नीति इससे विपरीत सिद्ध होती है जो रक्त-पात के बिना ही देश में शान्ति-समृद्धि की जननी हो सकती है। हम अपने धर्म को भूल गये हैं, अतः विविध अनाचार की शरण लेनी पड़ती है। आजकल जिस नीति के लिए हम संघर्ष कर रहे हैं, उसका उद्देश्य इतना ही तो है कि व्यक्ति रक्त-पात के द्वारा वित्त का अर्जन करे और वह वित्त इन्द्रिय-जन्य भोगों में व्यय हो। कोई अपने पास-पड़ोस के लिए भी चिन्ता नहीं करता है। पास का एक व्यक्ति भूखों तड़फ रहा होगा जब कि वहीं एक धनिक परिवार सुख से खा-पीकर अन्न की बरवादी भी करता होगा। वह धनिक व्यक्ति इतनी उदारता से सम्पन्न नहीं कि निर्धन की खोज-खबर ले। यही कारण है कि निर्धन परिवार भारत में रूसी साम्यवाद के ले आने की बाट जोह रहे हैं। एक गृहस्थ के लिए सर्वोच्च कर्तव्य, है आत्म-बलिदान। ये आलसी, कृपण व स्वार्थी व्यक्ति—वास्त-विक गार्हस्थ्य के धर्म से दूर रह जाते हैं। एक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह कठिन परिश्रम करे तथा वित्तोपार्जन की विधि से परि-चय करे। उस अर्जित धन से वह दूसरों की सेवा इतनी करे

जितना संभव हो। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास के आश्रमी-सभी तो गृहस्थ पर ही निर्भर रहते हैं। एक सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह गृह-माता को देवी समझे--पिता, गुरु किंवा दीन-दुखियों को भी देवता समझे। इसलिए गृहस्थ का धर्म मुख्य रूप से करुणा, उदारता, आत्म-बलिदान और सेवा में ही परिमित होता है। यदि एक गृहस्थ अपने धर्म का यथावत् पालन करता है तो अन्य धर्मी-गण भी अपने कर्तव्य का पालन करेंगे ही। यदि एक गृहस्थ अपने धर्म से च्युत हो जाता है तो अन्य धर्मी भी च्युति को प्राप्त करेंगे ही, क्योंकि गृहस्थाश्रम ही समग्र आश्रमों का आधार है। यदि माता-पिता सभ्य हों तो पुत्र भी सभ्य ही होंगे। वैसे माता-पिता से उत्पन्न ब्रह्मचारी भी अपने ब्रह्मचर्य के तेजस् से देदीप्यमान होकर चमकने-दमकने के लिए प्रस्तुत होंगे। ऐसे ही योग्य और आदर्श ब्रह्मचारी भविष्य में योग्य गृहस्थ, योग्य वानप्रस्थी और आदर्श सन्यासी के रूप में प्रकट होंगे। इसके विपरीत यदि माता-पिता धर्म से च्युत होंगे तो उनकी सन्तान भी वैसे ही होगी और फिर ब्रह्मचर्यादि आश्रमो में योग्यता का आना स्वप्न ही बना रहेगा। जो आदर्श ब्रह्मचर्य के जीवन को हाथ से खो बैठता है, वह कदापि योग्य गृहस्थ, वानप्रस्थी और सन्यासी भी नहीं हो सकता है। मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास के लिए चार बातों पर ध्यान देना पड़ता है—पारंपर्य, परिस्थितियाँ, योग्यता एवंप्रयास। एक आदर्श गृहस्थ के सुपुत्र इन चारों विभूतियों से पूर्ण होते हैं और उनके लिए जीवन के किसी भी क्षेत्र में असफलता नहीं मिलती। इसलिए, गृहस्थ का ही मुख्य कर्तव्य होता है कि धर्म का सम्यक् अनुपालन करें। फिर सुसन्ततियाँ होंगी और राष्ट्र समुन्नत होगा।

वानप्रस्थ आश्रम-धर्म—— गृहस्थ-धर्म के पालन कर लेने पर, धर्म, अर्थ और काम की अनुप्राप्ति कर लेने पर, वाञ्छित

सन्तान की उत्पत्ति कर उन्हें सयाना और शिक्षित कर लेने पर दम्पति का यह कर्तव्य है कि वे पुत्रों को गृहस्थ का कार्य-भार देकर स्वयं एकांत की शरण लें। वहाँ नित्य-साधना भजनादि मोक्ष-सिद्ध्यर्थ चेष्टाएँ हों, क्योंकि मोक्ष ही जीवन की परम अवधि है तथा यही मानव-जीवन का चरम पुरुषार्थ भी कहा जाता है। गङ्गा के तट पर अथवा किसी विजन प्रांत में एक कुटिया बनाकर दम्पति का कर्तव्य है कि वे वास करें तथा ईश्वर विषयक चित्त की वृत्तियों का उत्पादन करें। वहाँ वे यम-नियमादि का पालन करें। अहिंसा और सत्य का व्रत रखें। दान और उदारता पूर्ण भाव रखें। काया, वाचा और मनसा द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करें। स्वच्छता, पवित्रतामय जीवन-यापन करें तथा ईश्वर की ओर एकाग्रता का सृजन करें। इस प्रकार की कठित तपस्या को करते हुए वे जङ्गली जड़ी-बूटियों पर अथवा भिक्षा पर जीवन का निर्वाह करें। एक वानप्रस्थी का कर्तव्य है कि वह यज्ञोपवीत एवं शिखा का परित्याग न करे—तथा पितरों का पिण्ड-दान भी निरत रखे। चाहिए तो गैरिक वस्त्र भी ये पहिन सकते हैं, नहीं तो वैसे ही रहना ठीक है। इस प्रकार दम्पति का कर्तव्य है कि वे शारीरिक सुख-सुविधाओं को छोड़ कर केवल तप स्वाध्याय के लिए प्रयत्नशील हों। मन की एकाग्रता पूर्वक सत्यत्व को निदिध्यासन का विषय बनावें। इन्द्रियों के निरोध पूर्वक दिव्यत्व की प्राप्ति के लिए चेष्टा करें। यही वानप्रस्थ धर्म है।

सन्यासाश्रम-धर्म——यों बहुवर्ष तक पवित्रतामय जीवन व्यतीत कर चुकने पर, मन और इन्द्रियों पर यथेष्ट नियन्त्रण कर चुकने पर, निदिध्यासन की सीढ़ी पकड़ चुकने पर समाधि-सुख के लिए वयस्क दम्पति सन्यासाश्रम स्वीकार करें। सच्चा सन्यासी वही है जो द्वन्द्वों से पार चला गया है, गृह-त्यागी तथा क्लेशों-भयों को भी त्याग चुका है—जिसकी मेधा तीव्र हो चुकी है तथा

समग्र भोगों से विराग को पाकर जो शब्दादि विषयों से भी विमुख हो चुका है। केवल शरीर के पोषण के निमित्त चन्द आवश्यक वस्तुओं को रखता हुआ जो एकान्त में विचरण करता है। लोलुपता आशक्ति और दुराहारादि से वर्जित होता हुआ मनोजय को प्राप्त कर चुका है तथा नित्य-निरन्तर एकाग्र चित्त हो ध्यान-लग्न रहने का अभ्यासी हो चुका है—ऐसा ही सन्यासी शाश्वत आत्मा की खोज में निपुण हुआ आदर्श कहा जाता है। सन्यासी का कर्तव्य है कि वह अहंकार, दम्भ, काम, क्रोध, मोह, भय और घृणा को छोड़ दे। मैं, मेरा इत्यादि की भावना से जो छूट चुका है तथा चित्त की साम्यावस्था को प्राप्त कर चुका है—वही सन्यासी पूजनीय है। चित्त की साम्यावस्था कदापि कुग्रहों और दुःपरिस्थितियों के योग में विचलित न होने पावे। उसे किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं होनी चाहिए तथा वह सबको अपनी आत्मा के सदृश प्यार करे।

सन्यास लेते समय वानप्रस्थी अपने यज्ञोपवीत और हवनादि को छोड़ देता है तथा शिखा भी तोड़ फेंकता है। इसके साथ ही वह गैरिक वस्त्रों में आभूषित होकर सर्वदा के लिए अपने सर्व पितरों का तर्पण कर देता है। इस समय से वह नित्य मुक्त पुरुष हो जाता है। उसे किसी पुत्र, धनादि की चिन्ता नहीं रह चुकती है। वह किसी देश-काल में बँधता नहीं, जहाँ इच्छा होती है वहीं विचरता है। सन्यासी चाहे तो एक ही स्थान पर कुटिया बनाकर रहे, अथवा जहाँ इच्छा हो, चिन्ता, क्लेश रहित विचरता रहे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। वह तो उन्मुक्त सिंह है, जो भी कर सकता है।

— ३ —

अर्थ, काम और मोक्ष

अर्थ——जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये मानव-जीवन के चतुर्विध पुरुषार्थ हैं। इनमें धर्म की व्याख्या हम पहिले ही कर आये हैं। इस प्रकरण में हम अर्थ, काम और मोक्ष की यत्किंचित् व्याख्या करेंगे। अर्थ का अभिप्राय है धन। इसका अभिप्राय स्वर्ण, रजत, पृथ्वी-खण्ड इत्यादि के संग्रह से लिया जाता है। एक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह धन-संग्रह करे। हाँ, यह उसका धर्म है, जो पुरुष धन के संग्रह में हार खा जाता है, तथाविध पुत्र-परिवार की देख-रेख में विवश हो जाता है, वह सच पूछिये तो धर्म का अनुकरण नहीं कर रहा है। वह पुरुष आध्यात्मिक पथ का भी ठीक अनुसरण नहीं कर रहा है। आज का युग प्रतिद्वन्द्विता का युग है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से प्रतिशोध के लिए तत्पर है। एक जाति दूसरी जाति से अपने को समुन्नत बताती है। एक पन्थ अपने को उठाकर दूसरे को दबाना चाहता है। आज जबकि ब्राह्मण भी अपनी आजीविका के लिए दर-दर मारा फिरता है—फिर धर्म की क्या शान रही ! अतीत काल में ब्राह्मण, ब्रह्मचारी और सन्यासी राजा और प्रजा द्वारा पालित होते थे। तब की प्रजा ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों और सन्यासियों की सेवा में अपना गौरव समझती थी। आजकल ज्योंही धीरे-धीरे धर्म के प्रति

श्रद्धा घटने लगी—लोग इन तीन आश्रमों की सेवा में भी उपेक्षा करने लगे। धीरे-धीरे इस प्रकार की प्रथा ही लुप्त हो चली है। आजकल देश में कुछ पाठशालाएँ और क्षेत्र बने हुए हैं—जिनके द्वारा ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों और सन्यासियों का निर्वाह हो रहा है। वे वहीं अध्ययन भी करते तथा भोजन भी पाते हैं। ये प्रबन्ध भी उतने स्थाई नहीं हैं। किसी प्रकार उनकी व्यवस्था हो जाती है, परन्तु सम्यक् व्यवस्था का नाम इन्हें नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि पुराने ज़माने की भाँति सच्चे ब्राह्मण, ब्रह्मचारी और सन्यासी को ढूंढना भी कठिन है। वर्ण और वर्णाश्रम धर्म के नाश होने पर सभी जाति-पाँतियों में अव्यवस्था जैसी हो गई है। गृहस्थ अपने धर्म से बहुत ही च्युत है। ब्राह्मणों को आज रसोईये की नौकरी करके निर्वाह करना पड़ता है। वैश्य तो राजा बन जाते हैं और क्षत्रियवर्ग बेचारे खेती करते हैं। एक ही ब्राह्मण पण्डिताई भी करता है, युद्ध, संघर्ष और राज्य भी कर लेता है। वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की वैमनस्यता चल पड़ी है। जिसमें भी बुद्धि और क्षमता है वही श्रेष्ठ हो जाता है। अब तो जाति-पाँति केवल नाम-मात्र के लिए रह गई है। धर्म का विलोप ही हो चुका है। धर्म की दुहाई यदि जातियों में रह गई तो उसका दर्शन अब रसोई घर में ही कर सकते हैं। धर्म की महिमा यों लुप्तप्राय हो चुकी है और अब लोग अपने अधिकार के लिए कलहायमान रहने लगे हैं। एक गोत्र का ब्राह्मण दूसरे गोत्र से अन्न ग्रहण नहीं करता। एक गोत्र का क्षत्रिय दूसरे गोत्र के क्षत्रिय के साथ भोजन नहीं करता। वैसे ही वैश्य और शूद्र भी अपनी दुहाई हाँकते हैं।

भारत में एक वह भी युग था जबकि ब्राह्मणों को ही विशेष अधिकार प्रदत्त था। वे सबसे अधिक सम्मानित और शक्तिशाली थे। बड़े-बड़े धीर राजा भी ब्राह्मणों से भय खाते थे, उनकी सेवा-

पूजा करते थे। धीरे-धीरे ब्राह्मणों की ब्राह्मणता नष्ट होने लगी और क्षत्रियत्व ने जोर पकड़ा। तब क्षत्रियों को राजा के रूप में ही नहीं, उपदेशक के रूप में भी देखा। क्षत्रियों को बड़ी से बड़ी उपाधि से विभूषित उपदेशक के रूप में देखा। जनता के विशाल समूह ने इनका अनुकरण किया। राम, कृष्ण, बुद्ध, विश्वामित्र, जनक, भीष्म तथा महावीर—ये सबके सब क्षत्रिय ही थे। इन्होंने जिस धर्म का प्रचार और प्रसार किया—वह क्षत्रिय धर्म के अन्तर्गत ही लिया जा सकता है। इनके अनुकरण करने वाले भी तो बहुत हुए। राम-सीता, कृष्ण और राधा—ये यद्यपि गृहस्थ के नाम हैं, परन्तु बड़े-बड़े कट्टर ब्राह्मण भी इनकी पूजा करते हैं। विश्वामित्र-प्रोक्त गायत्री-मन्त्र बड़े-बड़े ब्राह्मणों को मान्य है, वे इसका पुरश्चरण भी करते हैं। इस प्रकार कुछ वर्ष पर्यन्त क्षत्रियों द्वारा प्रोक्त धर्म भारत में प्रधानता को प्राप्त रहा। यह भी धीरे-धीरे विलुप्त हो चुका और वैश्यों की प्रधानता आई। आजकल पैसा ही वह रत्न है जिस पर विश्व की सारी वस्तुएँ अवलंबित हैं। कोई व्यक्ति महान् कलाकार व वैज्ञानिक हो सकता है, परन्तु पैसा यदि उसके पास नहीं है, तो वह बेकाम है। कोई व्यक्ति यदि महान् लेखक ही क्यों न हो किन्तु पैसे यदि उसके पास नहीं तो वह किसी गिनती में नहीं रह जाता है—उसकी रचनाएँ भी यूँ ही सड़ जाती हैं। छपाने वाला भी कोई नहीं मिलता। आजकल पैसा ही सब कुछ है। यदि गली में भूँकने वाला कुत्ता भी पैसे वाला होता तो वह भी पूजा जाता। उसका भी हर जगह सम्मान होता। चरित्रहीन भी पैसे वाले व्यक्ति सब जगह सम्मान पाते हैं। आज चरित्र का सम्मान नहीं होता है; बल्कि सम्मान पैसे का होता है। वास्तविक गुणों द्वारा कोई पूजित नहीं होता, किन्तु दलालों के प्रचार से उसे पूजा मिलती है। ऐसी परिस्थिति होने के ही कारण आज सभी समाज पैसे की अपेक्षा रखता है।

जाति का बन्धन पुराने युगों में उतना दुरूह नहीं था जैसा हम आज देखते हैं। जाति की परम्परा को लोग जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। वैसे तो जिसमें गुण-गौरव की देख-रेख होती थी उसे ही बड़े ओहदे पर रखा जाता था। वही ब्राह्मण कहलाता था। हम देख आए हैं कि बहुत से ऋषि नीच कुलों में उत्पन्न हुए थे किन्तु श्रेष्ठ कार्य के कारण वे द्विजों द्वारा भी पूजनीय हुए। उनके उपदेशों का सभी ने अनुसरण किया। यदि इन ऋषियों की दीक्षाओं को हम अपने धर्म से निकाल फेंकें तो हमारे धर्मग्रन्थ कोरे के कोरे रह जायँगे और उनकी मर्यादा भी फीकी पड़ जायगी। भगवान् राम के गुरु तथा योग वाशिष्ठ के प्रणेता श्री वशिष्ठ महर्षि एक नर्तकी महिला उर्वशी की सन्तान थे। विश्वामित्र महर्षि जन्म के क्षत्रिय नरेश थे—किन्तु तपस्या के बल पर उन्हें ब्राह्मणत्व की पदवी मिली। नारद ऋषि एक दासी की सन्तान थे। अगस्त्य ऋषि एक घड़े से उत्पन्न हुये थे। गौतम ऋषि भी एक खरहे की सन्तान थे। महर्षि व्यास जिन्होंने समग्र वेद-वेदांगों का सम्पादन किया, एक मल्लाहिन स्त्री की सन्तान थे। वाल्मीकि महर्षि भी शुरू २ में डाकू ही थे। ऋषि जम्बूक एक गीदड़ की सन्तान थे। ऋषि कौशिक एक कुश की घास से उत्पन्न हुये थे। ऋषि ऋष्यश्रृङ्ग हिरण से उत्पन्न हुये थे। इन ऋषियों के नाम ब्रह्मर्षियों में लिये जाते हैं और इनकी मर्यादा भारतवर्ष की विभूति है। ये कैसे कुलों में उत्पन्न हुए थे, हम देख ही आए हैं। फिर जाति-पाँति की दुहाई देना निरी मूर्खता ही नहीं तो और क्या है? वे जाति-मर्यादा को तो भूल बैठे हैं, केवल अपने को अमुक जाति वाला बताने में गौरव समझते हैं।

जाति के निर्णय में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि वह पूर्व जन्मागत सद्गुणों से अलंकृत बेशक है, दूसरे पैतृक दिव्य गुणों का भी भागी है। हम देखते हैं कि नीच चरित्र

वाले माता-पिता से भी सच्चरित्र व्यक्ति उत्पन्न होते हैं और सच्चरित्र परम्परा भी दुश्चरित्रवानों में बदल चुकती है। एक ब्राह्मण का पुत्र हमेशा ब्राह्मण ही रहे, यह कोई जरूरी नहीं है। पुत्र में ब्राह्मणत्व का अभाव हो सकता है, तथा उसमें वैश्यत्व और क्षत्रियत्व की प्रधानता रह सकती है। वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के पुत्र क्षत्रिय और वैश्य स्वभाव वाले ही हों, यह कोई जरूरी नहीं है। वह ब्राह्मण के स्वभाव को लेकर उत्पन्न हो सकता है। पुराचीन ऋषि इस रहस्य को जानते थे और इसलिये उन्होंने इस बात के निर्णय में दो चीज़ों पर विशेष ध्यान दिए, जन्मगत संस्कार और योग्यता—इनकी नींव ठीक थी, तभी जातीय परम्परा वैज्ञानिक रीति से सुदृढ़ थी।

सबसे अधिक शोकान्त वार्ता भारतवर्ष में शिक्षा के विषय में है। लड़के और लड़कियों की शिक्षा का जो विषय है, वही अव्यवस्थित है, वही दूषणों से पूरित है। मनुष्य कदापि सच्चे धर्म, विज्ञान और कला के बिना नहीं रह सकता। जब तक मानव का जीवन है, जब तक उसमें प्राण है, जब तक उसमें रोग, दुःख और शोक है— तब तक मनुष्य भगवान् को नहीं भूल सकता। किसी न किसी प्रकार से ईश्वर सम्बन्धी विचार उसके मन में रहेगा ही। वर्तमान काल में धर्म, कला और विज्ञान—ये तीनों ही दरिद्रों के दलन तथा धनिकों के प्रोत्साहन में संलग्न हैं। कला और विज्ञान का यही कर्तव्य शेष रह गया है कि वे धनिकों के के प्रमाद में योग देते रहें। जाति-प्रथा में जो वास्तविकता थी, वह तो प्रायः नष्ट रही। हम आज वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, शूद्र— सभी को धर्म से रहित देखते हैं। फिर भी हम जन्मगत जाति-प्रथा को पकड़कर बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि हम आज ब्राह्मणों को क्षत्रिय के तथा क्षत्रिय और वैश्यों को ब्राह्मण के कर्म करते देख रहे हैं। जबकि परिस्थिति विवश करती है, सभी ब्राह्मणों,

क्षत्रियों और वैश्यों को मूल्य के लिए दास-वृत्ति करनी पड़ती है। ठीक है परन्तु निर्वाह के लिए यह वित्त सम्पादन उचित रीति से ही होना चाहिए। धर्म को भूलकर धन का अर्जन अति बुरा होगा। धर्म को दृष्टिकोण में रखते हुए धन का अर्जन करना चाहिए, नहीं तो धनिक आत्यन्तिक नाश के गर्त में जायेगा। आज जो हम देखते हैं—वह यही है कि धर्म को भूल कर ही मनुष्य धन का उपार्जन करने लग गया है।

उदाहरण के रूप में उन व्यक्तियों को लीजिए जो कृषि, वाणिज्य अथवा सरकार की चाकरी द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। वे किसी धर्म की परवाह नहीं करते। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य–जो भी कृषि, वाणिज्य, चाकरी द्वारा जीविका पालन करते हैं–किसी धर्म की ओट में रहना पसन्द नहीं करते हैं। अनुचित रीति से भी वित्तोपार्जन कर लेते हैं। वाणिज्य में तो प्रत्येक ही काले बाज़ार की शरण लेते हैं। वैसे ही आजकल वस्तुएँ मँहगी मिलती हैं। ढूँढने पर भी शुद्ध वस्तु का पाना कठिन ही है। प्रत्येक वस्तु के पीछे अनुचित लाभ लेकर भी हमें धोखा देते हैं। कृषि में भी वैसी ही चतुराई है,परन्तु वाणिज्व की अपेक्षा कम है फिर सरकारी चाकरी करने वालों की तो पूछिए मत—वे तो आदि से अन्त तक बेईमानी ही सीखे-सिखाए रहते हैं। पुलिस-विभाग देश की शांति और सुरक्षा के लिए बनाया गया है—परन्तु यह तो इतना गया-गुज़रा विभाग है कि कुछ कहा नहीं जाता। सब प्रकार की कुरीतियाँ यहीं से शुरू होती हैं। कुछ ही ऐसे ऑफिसर होंगे जो रिश्वत इत्यादि नहीं लेते होंगे। फिर न्यायालय की ओर ज़रा चलकर देखिए। वहाँ तो महा भ्रष्टाचार है। एक बैरिष्टर और वकील तो बस तिल का ताड़ कर देंगे और आपको उलझन में डालकर पैसे कमा लेंगे। यहाँ अपनी बुद्धि भी मारी जाती है। और कुरीतियों के पाठ का पढ़ना भी हो जाता है। सरकारी प्रत्येक विभाग

में रिश्वत की प्रथा बहुविध प्रचलित है। वन विभाग हो, गृह उद्योग विभाग हो, सफाई विभाग अथवा कोई भी सरकारी विभाग हो—सर्वत्र ही रिश्वत ख़ोरी और कालाबाज़ारी का बोल-बाला है। विशेष रूप से भी कहीं कोई नौकरी करने वाले हैं, वे भी किसी न किसी प्रकार से दूसरों को धोखे में डालते हैं। यही तो आज के मानवीय मस्तिष्क में विकास का उदाहरण है। हम यह तो नहीं कहते हैं कि वित्तोपार्जन बुरा है, परन्तु यह सदाचार पूर्ण नीति से होना चाहिए। अनुचित रीति से पैसे कमाना, यह बहुत ही पाप है और अनर्थ का मुख्य हेतु है। इस प्रकार कदाचार के उन्मार्गी जीवन में रस की अनुभूति नहीं कर सकते, और ईश्वरत्व की पदवी से वञ्चित रह जाते हैं।

काम——काम का अर्थ है इच्छा। इसका अर्थ भोग और आनन्द भी है। परन्तु, यहाँ इसका अर्थ है--किस प्रकार उचित रीति से अर्जित द्रव्य का उपभोग हो। काम के उपभोग में मनुष्य का कर्तव्य है कि वह धर्म को निगाह से हटाए नहीं। समुचित रीति से अर्जित धन के द्वारा माता-पिता, पत्नी इत्यादि सकल परिवार की देख-रेख करना हमारा कर्तव्य है। ये हम पर आश्रित रहते हैं—इसलिए उनकी समुचित व्यवस्था हमारी कामनाओं का प्रमुख रूप होना चाहिए। जो कुछ धन का अर्जन हम करते हैं, उसका एक अंश देश की सेवा, दीनों, दुखियों, दरिद्रों की शुश्रूषा में लगावें। जो व्यक्ति अपने धन का एक अंश दान के लिए व्यय नहीं करता वह वस्तुतः पापी है। जीवन नितान्त ही निःस्वार्थ होना चाहिए। जीवों के प्रति अवश्य दया होनी चाहिए, मनुष्य को अपना छोटा अस्तित्व भूल जाना चाहिए। हमारा रहन-सहन बहुत ही साधारण होना चाहिए। अपनी भोग की सामग्रियों को कम करना चाहिए। जो कुछ धन का अर्जन हम कर पाते हैं, उसका सदुपयोग करना चाहिए। बहुतों में यह कमी देखी जाती है। बहुत से लोग अति-

व्ययी होते हैं। वे अपने धनिक बन्धुओं का अनुकरण ही करने लग जाते हैं। यही तो बुरा है। हमें स्वयं अपनी प्रभुता की थाह लेनी चाहिए और उसके अनुसार ही धन का व्यय करना चाहिए। उसमें एक अंश दान के लिए भी रहना चाहिए। ऐसा ही व्यक्ति धर्म का अनुसरण कर सकता है और मानसिक शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

मोक्ष —— हम पहले कह ही आए हैं कि धर्म, अर्थ और काम—ये मोक्ष के साधन मात्र ही हैं। सबको अपनी जाति, नीति और कुल के अनुसार धर्म का अनुसरण करना चाहिए। धर्म को दृष्टिकोण में रखते हुए हमें चाहिए कि अर्थ का अर्जन करें-तथा धर्म को ही दृष्टिकोण में रखते हुए उसका व्यय भी करना चाहिए। परन्तु इसके साथ ही हमारा कर्तव्य है कि हम मोक्ष को न भूल जायँ। मानव का जीवन अत्यन्त ही दुर्लभ है और इसे पाकर व्यर्थ गँवाना निरी मूर्खता है। कहा जाता है कि चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करने के उपरान्त मनुष्य जन्म की बारी आती है। एक जीव को तीस लाख बार स्थावर के रूप में, ग्यारह लाख बार कीट-भृङ्गों के रूप में, दस लाख बार पक्षियों के रूप में, नौ लाख बार जलीय पशु के रूप में, बीस लाख बार स्थलीय पशु के रूप में और चार लाख बार मनुष्यों के रूप में जन्मना और मरना पड़ता है। मनुष्य जीवन को पाकर भी सुन्दर स्वास्थ्य और बुद्धि को प्राप्त करना कठिन है। इतना यदि किसी को प्राप्त भी हो जाय तो उसका कर्तव्य है कि वह किसी गुरु की सन्निधि में जाकर मोक्ष की प्राप्ति के लिए चेष्टा करे। इसे पाकर हाथ से गँवा देने का अर्थ है-जीवन का दुरुपयोग करना, जिससे बढ़कर प्रायश्चित और कोई नहीं होगा।

शनैः शनैः अब हम यह विचार करें कि मोक्ष क्या वस्तु है? और वह कैसे प्राप्त की जा सकती है? प्रत्येक प्रकार के विचार

इसमें प्रत्येक रीति का अवलम्बन करते हैं। द्वैतवाद के अनुसार जीव अपने परमेश्वर के लोक में जाकर उनसे एक होता हुआ सानन्द रहता है, यही मोक्ष है। इसमें सृष्टि, स्थिति और विनाश के अतिरिक्त अन्य सारी शक्तियाँ आ जाती हैं। ये शक्तियाँ केवल ईश्वर में ही रहती हैं। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव ईश्वर लोक में जाकर उनका अंशमात्र रहता हुआ मोक्ष-पद को प्राप्त करता है। अद्वैतवाद के अनुसार जीव ब्रह्म में एकता को प्राप्त कर तल्लीन हो जाता है और उसकी मुक्ति मानी जाती है। तब फिर जीव और शिव में कोई अन्तर नहीं माना जाता है। जैसे घटाकाश और महाकाश में कोई भेद नहीं रह जाता। वास्तव में वे दोनों आकाश भिन्न नहीं रह जाते। उसी प्रकार सर्वव्यापक परमात्मा हमसे अभिन्न है। परन्तु देहाध्यास के कारण हम उस तत्व को समझ नहीं सकते और अपने देहादि संघात को ही सर्वस्व मानकर उनके पालन-पोषण में व्यथा मानते हैं। जब यह भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है तो व्यष्टि जीव समष्टिपरमात्मा से अभिन्न मानता है। इसलिए अद्वैतवाद के अनुसार संसारी जीव का पारमार्थिक जीव में एकीभूत हो जाना ही मोक्ष है। ब्रह्म और आत्मा का अभेद ही ज्ञान और ऐसी ज्ञानावस्था ही मोक्ष है। हमारी परम्परा का यही सिद्धान्त रहा है।

विचारिये एक नमक का पुतला समुद्र की गहराई देखने के लिए जाता है। समुद्र को दूर से ही देख कर वह कहने लगता है "अरे यह तो कितना विस्तीर्ण है, कितना अगाध जल, कैसा यह आश्चर्य !" यह कहता हुआ वह समुद्र तट पर पहुँचता है और थोड़ा सा जल के अस्वाद को चख कर आश्चर्य से बोलता है, "अरे यह तो नमक पानी रूप में है और मैं घनारूप में हूँ। सागर के नीर में और मुझमें कोई विशेष भिन्नता नहीं है। जो यह है वही मैं हूँ।" ऐसा बोलकर वह नमक का पुतला सागर के नीर

में चला जाता है। जल के भीतर जाते ही वह उसमें मिल जाता है।

द्वैत वह स्थान है जहाँ से वह नमक का पुतला दूर से आश्चर्य होकर सागर को देखता है। यह साधना की पहली अवस्था है। यहीं से चल कर अद्वैत रूपी मोक्ष प्राप्त होता है। द्वैतवाद की अवस्था में साधक अपने साध्य ईश्वर को दूर से देखता है। वह उसकी पूजा करता है, आराधना करता है, उससे प्रेमपूर्वक प्रलाप करता है किंवा प्रेम से श्रद्धा से उस पर न्यौछावर होता है। वह उसकी प्रशंसा करता है। वह ईश्वर की गुणावलि गाता है, उनसे सहायता माँगता है। द्वैत की अवस्था में साधक अपने परमात्मा को अपने से पृथक् मानता है। वह ईश्वर में अपने को तदाकार नहीं मानता। उसके ईश्वर के साथ एकाकारता एक भ्रान्ति बनी रहती है। द्वैत का साधक ईश्वर की ओर बढ़ता हुआ उस परमानन्द का वैसे ही आस्वाद करता है, जैसे नमक का पुतला जल की ओर अभिगमन को प्रस्तुत होता है, धीरे-धीरे वह जलगत नमक की अनुभूति करता है और एकाकार होने की बारी तदनन्तर आती है। साधक यों समझने की चेष्टा करता है कि यह नाशवान् शरीर और मन नहीं है। वह जीवात्मा की नित्यता को समझता है। लेकिन साथ ही यह भी समझता है कि जीवात्मा परमात्मा का एक अंश है और वह उसका भृत्य है, वह उसके बिना नहीं रह सकता............इत्यादि। यह साधक की विशिष्टाद्वैतावस्था है। अद्वैतावस्था जब आती है तब जीवात्मा परमात्मा में एकाकार आभासित होने लगता है, जैसे नमक का पुतला जल से भिन्न अपने को नही पहचान रहा हो। साधक भी शनैः शनैः सच्चिदानन्द ब्रह्म में एकीभाव को प्राप्त हो जाता है। यह कर्ता, करण, कार्य की भावना नष्ट हो जाती है और अतिमानसिक चेतना

में सचेत होकर जीव शुद्ध-बुद्ध परमात्मा का स्वरूप ही हो जाता है।

वह मोक्ष मानव से कैसे प्राप्त होता है? यह क्या संभव है? यह क्या साध्य है? क्या संसार के झन्झटों में रहता हुआ मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है? इस प्रकार के अनेक वाद-विवाद अपरिपक्व मस्तिष्क में उठा करते हैं।

सामान्यतः मन की चार अवस्थाएँ होती हैं—इच्छा, अनुभूति, चिन्तन और एकाग्र्य। ये चारों अवस्थाएँ मानव-मन में घटित होती हैं। यद्यपि ये चारों अवस्थाएँ मानव-मन में काम करती हैं किन्तु मानव इनकी परख नहीं कर पाता है। वे प्रत्येक में पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती हैं। बहुसंख्यक लोगों के बीच किसी एक में कदाचित् एक अवस्था प्रमुख रूप से विद्यमान होती है। और इसी के प्रधानता के अनुकूल मनुष्य अपना जीवन-पथ चुनता है। इन्हीं चार अवस्थाओं की प्रधानता मानव-मन में देखकर ऋषियों ने मानव के लिए चार रास्ते निकाले—इच्छा-शक्ति प्रधान मनुष्यों के लिए कर्म-योग, अनुभूति-शक्ति प्रधान मनुष्यों के लिए भक्ति-योग, चिन्तन-शक्ति प्रधान लोगों के लिए ज्ञान-योग तथा एकाग्रता-शक्ति प्रधान मनुष्यों के हेतु राज-योग—इस प्रकार चार मार्ग का दिग्दर्शन किया। जो कोई भी उनमें से किसी मार्ग का वरण करता है, उसी मोक्ष रूपी लक्ष्य पर पहुँचता है। मोक्ष सर्वसाधारण के सामान्य लक्ष्य हैं। जो इसके प्रति चेष्टा करते हैं, इसकी ओर अभिगमन करते हैं, उन्हें यह प्राप्त भी होता है। मोक्ष की अभि-लब्धि प्रत्येक मानव के लिए जन्म-सिद्ध अधिकार सा है, इस पर कोई भी निषेधात्मक वाद-विवाद खड़ा नहीं कर सकते। परन्तु, क्योंकि लोगों ने असत्य रास्ते का वरण कर लिया है, इसलिए अपनी वास्तविकता विस्मृति के गर्त में चली गई है। मानव दुःख और द्वन्द्वों को झेलता है। ईश्वर अथवा मोक्ष एक केन्द्र-

विन्दु के सदृश है, जिसके चारों ओर विविध मार्ग विविध व्यासार्ध की तरह खचित हैं—सबका अभिगमन और उद्देश्य विन्दु पर ही पहुँचना होता है। धीरे-धीरे इन मार्गों की उचित व्याख्या करेंगे।

— ४ —

कर्म-योग

'कर्म' यह संस्कृत का शब्द है। इसका अर्थ है कार्य अथवा काम। वैसे तो सब कार्य कर्म कहलाते हैं। खाना, पीना, सोना, बोलना, चलना, पढ़ना, देखना, सुनना और क्या हृदय की प्रत्येक गति का प्रस्पन्दन भी कर्म ही है। कर्म का वैसे गूढ़ार्थ भी लिया जाता है। कर्म का अर्थ और भी लिया जाता है—अतीत के प्रारब्धानुकूल कृत-कर्म और आधुनिक कृत-कर्म। अपनी इच्छा, वासना, और अभिरुचियों के अनुसार मनुष्य कार्य करता है, जिस पर उसके भावी जीवन की नींव पड़ती है। तदनुकूल ही प्रारब्ध का निर्माण होता है। इसे वर्णाश्रम-धर्म ही कहते हैं। स्व-धर्म के अनुसार ही प्रारब्ध का निर्माण होता है।

योग का अर्थ क्या होता है?

(१) योग का अर्थ होता है, मिलना या संयोग करना। दो वस्तुओं के परस्पर संयोग को ही योग कहते हैं।

(२) गणित के अनुसार इसका अर्थ है जोड़ना।

(३) ज्योतिष शास्त्र के अनुसार इसका अर्थ है, ग्रहों और नक्षत्रों का सम्मिलन।

(४) व्याकरण में यह अक्षरों और शब्दों के संयोग से तात्पर्य रखता है।

(५) न्याय शास्त्र में यह विशेष की शक्ति का योजक कहलाता है।

(६) मीमांसा में वाक्यों के समूह की शक्ति को योग कहते हैं।
(७) पतंजलि के अनुसार यह चित्त की वृत्तियों का निरोध कहलाता है।
(८) बौद्धों के अनुसार यह मन की सब वस्तुओं से विकर्षण है।
(९) वेदान्त में यह आत्मा से परमात्मा का संयोग कहलाता है।
(१०) योग में यह प्राणशक्ति से आत्मा का संयोग कहा जाता है।
(११) गीता में यह असङ्ग कार्य से अभिप्राय रखता है। अपने कुलोचित कर्मों को आशक्ति बिना करते हुए चित्त की वृत्तियों को संतुलित रखना ही योग है।
(१२) ध्यान के प्रत्येक अङ्ग को योग कहते हैं।
(१३) वैशेषिक शास्त्र के अनुसार यह चित्त की एकाग्रता को एक नियत स्थान पर लगाना कहा जाता है।
(१४) विशिष्टाद्वैत (रामानुज) के अनुसार यह अपने इष्ट देवता के अनुसन्धान से तात्पर्य रखता है।
(१५) कुछ बौद्धों के लिए यह अपनी इच्छित वस्तु की गवेषणा से अर्थ रखता है।
(१६) कुछ औरों के मत में यह किसी भी इच्छा का अनुकरण है।
(१७) अलंकार शास्त्र में यह प्रेमियों के मिलन से अर्थ रखता है।
(१८) औषधि शास्त्र में यह दवाओं के मिलन को कहते हैं।
(१९) योगवासिष्ट में इसका अभिप्राय आत्मसाक्षात्कार से है। वैसे साधारणतया इसका अर्थ मिलन से ही है। एकाकी सत्ता का सर्वत्र स्वीकरण भी इसका अर्थ है। इसका अर्थ मन का निरोध भी है। इसका अर्थ प्राण-शक्ति का गतिरोध भी है। मुक्ति के हेतु किसी भी साधन का नाम योग है।
(२०) इसका अर्थ अव्यक्त का प्रत्यक्षीकरण भी है।
(२१) धर्म का क्रियात्मक भाग भी योग है।
(२२) दो बाहरी वस्तुओं का सम्मिलन भी इसका अर्थ है।

(२३) एक वस्तु का दूसरे से संयोग होना भी योग है।
(२४) कारणों का संयोग जिससे किसी विशेष कार्य की उत्पत्ति होती है।
(२५) किसी सैनिक अथवा सामान्य व्यक्ति की सर्वविधि अभिपूर्ति को भी योग कहते हैं।
(२६) विवेक और विचार—जिसके द्वारा किसी नियत सत्य की गवेषणा होती है।
(२७) शब्द की शक्ति, जिसके द्वारा किसी अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति होती है।
(२८) अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा भी योग कहलाता है।
(२९) एक वस्तु का दूसरे में परिवर्तन भी योग कहलाता है।
(३०) जीवात्मा का परमात्मा से संयोग भी वही है।
(३१) विचारों का निरन्तर प्रवाह भी योग कहलाता है।
(३२) ध्यान के द्वारा विचारों के प्रवाह पर नियन्त्रण भी योग कहलाता है।

अर्थात् 'योग' यह शब्द कला, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन प्रभृति सभी के अन्तर्गत अनुस्यूत हो जाता है।

लेकिन हमारे उपयोग में योग का अर्थ एकता से लिया गया है। यह शक्ति अथवा शिव की, जीवात्मा अथवा परमात्मा की एकता समझिए। मानव की ईश्वर के साथ एकता होती है, आत्मा की ब्रह्म के साथ एकता को ही योग कहते हैं। अपनी वास्तविकता पहचानने के लिए जिन पथों के दिग्दर्शन किए गए हैं, वे सभी योग कहलाते हैं। द्वन्द्व की अवस्था में मन की उपरामता को योग कहते हैं। एक ही प्रकाश में सब द्वन्द्वों को प्रकाशित कर देना ही योग कहलाता है। सत्व, रज और तम—इन तीन गुणों से तथा सभी द्वन्द्वों से ऊपर जाने का नाम योग है। ईश्वर तक पहुँचाने वाले जो पथ हैं—उसे ही योग कहते हैं। मन की गम्भीर एका-

ग्रता को ही योग कहते हैं। कर्म-योग का अर्थ है कर्म के द्वारा चित्त की वृत्तियों का एकीकरण। निष्काम कर्म के द्वारा चित्त की वृत्तियों को समेट लेना कर्म-योग कहा जाता है, यही माध्यम ईश्वर के साम्राज्य तक पहुँचा देता है। जिसके द्वारा संसार के राग, द्वेष, काम, क्रोधादि छूट जाते हैं, उसे ही कर्म-योग कहा जाता है। बन्धन से छुटकारा जिस कर्म-योग की विधि से होता है, वही श्रेष्ठ योग है। कर्म में कुशलता ही कर्म-योग है। अतीत के कर्मों का क्षय होकर भावी कर्मों का भी गतिरोध जिसके द्वारा हो जाता है, उसी माध्यम को कर्म-योग कहते हैं। फलों की आकांक्षा का त्याग करते हुए तथा आसक्ति से रहित कर्मों को कर्म-योग की संज्ञा दी जाती है।

साधारण व्यक्ति का मन बिखरा हुआ रहा करता है। कारण कि नाना प्रकार की वस्तुओं में घनिष्ट आसक्ति होती रहती है। विवाहित पुरुष के मन का एक अंश पत्नी और पुत्रों में ही रहा करता है। उसका दूसरा अंश काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादि में लिथड़ा रहता है। उसका शेष अंश यश, कीर्ति, परिवार, मान और बड़ाई इत्यादि की आकांक्षा से श्लथ रहता है। इसलिए प्रायः मनुष्य का मन दुर्बल और क्षीण हुआ करता है। दासता और बन्धन का कारण अपना मन है। फिर क्या, अपने पुत्र, परिवार इत्यादि को प्रेम करना एक पाप है? फिर क्या, सदुपयोग के लिए धन एकत्र करना पाप है? फिर क्या, यश और कीर्ति की अभीप्सा में सफल होना अपराध है? नहीं,ऐसा कभी नहीं माना जाता। एक गृहस्थ अपने पुत्र, परिवार को प्रेम करेगा ही। उसे माता-पिता एवं अन्य जनों की देख-रेख करनी ही पड़ेगी। उसे सत्कर्मों के द्वारा यश और कीर्ति प्राप्त करनी ही चाहिए। परन्तु उनके प्रति आसक्ति और मोह को छोड़ देना उसका फ़र्ज है।

जब तक कोई संसार में रहता है, उसे काम करने ही पड़ते हैं। कम से कम अपने शरीर की सुरक्षा के लिए भी कुछ धन की आवश्यकता पड़ती ही है। और,यों कर्म को छोड़ना हमेशा वर्जित है। कर्म सदा चित्त की एकाग्रता पूर्वक होना चाहिए। कर्म सदा अनासक्ति पूर्वक होना चाहिए। कर्म किसी कामना के बिना होना चाहिए। जब तुम काम करते हो, सदा पूरे हृदय से करो। अपने मन की सभी वृत्तियों को लगाकर हृदय और संकल्प शक्ति का संयोग कर काम करना चाहिए। इसके साथ ही किसी प्रकार के फल की आशा भी नहीं करनी चाहिए। कर्म के साथ फल की आकांक्षा ही हमारे मन की शान्ति को चुरा ले जाती हैं। इसके विपरीत यदि कोई कर्म के साथ फल की आकांक्षा को छोड़ चुकता है तो उसके समीप शांति, समृद्धि और सिद्धियाँ रहती हैं।

क्या यह संसार ईश्वर से भिन्न है? इस प्रकार कहने का क्या अभिप्राय होता है कि—"संसार असत्य है और ईश्वर ही सत्य है।" जगत् ईश्वर से भिन्न नहीं है। ईश्वर सब में है और वह सर्वत्र है। जगत् की असत्ता से क्या मालूम, यही नाम रूपों वाला जगत् मिथ्या है। यह सदा परिवर्तनशील है, तथा विनश्वर है। नाम और रूप निरन्तर बदलते रहते हैं। नाम और रूपों को निकाल दीजिए, फिर जगत् में जो शेष रहता है, वह ईश्वर ही है। 'मैं' और 'मेरा' का विचार ही बन्धन है। यही संसार में हेतु है। यह विचार ही नरक है। यही आसक्ति का कारण है,यही असंख्य दुःखों का कारण है। इसी 'मैं' और'मेरा'का विचार रखते हुए मनुष्य बड़ा सा संसार रच लेता है। जब तक 'मेरा' का विचार मनुष्य में रहता है, जब तक 'अहं' का विचार रहता है, तभी तक संसार है। तभी तक मनुष्य नारकीय जीवन की अग्नि में झुलसता है। सबसे बढ़कर बन्धन, सबसे बढ़कर दुःख और सबसे बढ़कर पातक यही 'अहं' का विचार है। यही

विचार सभी दुःखों, विपत्तियों और पापों का कारण है। यही 'मैं' और 'मेरा' का विचार सभी बुराइयों का कारण है। स्वार्थपरता, लोभ, घृणा, राग, द्वेष इत्यादि का मूल यही विचार है। 'मैं' और 'मेरा' के विचार से सब प्रकार के अनर्थ खड़े होते हैं। जब तक यह विचार मनुष्य के मस्तिष्क में रहता है, तब तक वह मुक्ति से दूर रहता है। ऐसे व्यक्ति के लिए मुक्ति की कोई आशा नहीं है। इसलिए कर्म-योग कहता है कि इस 'अहं' के विचार को नाश कर दो। कर्म-योग के अनुसार 'मैं' और 'मेरा' के स्थान में 'तू' और 'तेरा' रूपी विचार रखने की सम्मति है। जो कुछ भी करते हो, ईश्वर के लिए करो। ईश्वर के लिए खाओ। उनके लिए ही पीओ। और भला क्या, उनके लिए ही हृदय को धड़कने दो। वैसे यह तो अभ्यास में कठिन है क्योंकि मन और अहंकार मनुष्य को हर प्रकार से छल लेता है। परन्तु और कोई विचार या और कोई रास्ता नहीं है। यदि शान्ति चाहते हैं तो सबको कर्म-योग द्वारा अहंकार का नाश करना ही पड़ेगा। धीरे-धीरे अहंकार का नाश होकर ईश्वर की सत्ता सर्वत्र दिखाई पड़ेगी और यह मालूम पड़ेगा कि उनका ही हाथ सर्वत्र काम कर रहा है। सफल चेष्टाओं के द्वारा मार्ग की बाधायें कम पड़ जाती हैं और साधक अपनी सिद्धि-कामना पूरी कर सकता है।

एक गृहस्थ का कर्तव्य होता है कि अपने पुत्र, परिवार के प्रति, समाज और देश के प्रति वह उनके काम आवे। उसका कर्तव्य होता है कि वह सबका सम्यक् रीति से परिपालन करे। वह वाणिज्य के द्वारा धन का अर्जन करे तथा अर्जित धन का व्यय गरीबों, दुखियों और दीनों की सेवा में करे। एक गृहस्थ के नाते उसे चाहिए कि माता-पिता के प्रति श्रद्धा रखे। अपने परिवार के लिए जो कुछ भी करे, सब श्रद्धा, प्रेम, भक्ति और भावपूर्वक करे। उसे किसी भी कर्म में आसक्त नहीं होना चाहिए। परन्तु यह अर्थ

नहीं कि वह काम ही करना छोड़ दे। कार्य करते हुए व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह आज्ञाकारिणी दासी की तरह वर्ताव करे! एक दासी अपने मालकिन के बच्चे को प्रेम से पालती है। कहती है 'मेरा गोपाल', 'मेरी ललिता' इत्यादि—किन्तु अन्दर से जानती है कि वह उनसे सम्बन्ध कदापि नहीं रखती। यदि ऐसी कोई घटना हो तो उसे दास-वृत्ति छोड़कर जाना पड़ेगा। वह किसी भी बच्चे से आसक्त नहीं रहती, यदि ऐसा हो तो वृत्ति के छोड़ने काल में भयंकर सन्ताप उसे होता। प्रत्येक व्यक्ति को, (कर्म-योगी को) उस आदर्श का पालन करना चाहिए आप 'हमारा बच्चा', 'हमारी माँ', 'हमारे पिता' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग कीजिए, परन्तु हृदय में यह जानिए कि 'हमारा' नाम से कोई भी नहीं है। यह सब कुछ ईश्वर के अधिकार की वस्तुएँ हैं। हम सब तो उसके संरक्षक मात्र हैं। किसी को अपना बताकर भ्रम में पड़ना सर्वथा भूल है। जैसे कि एक सफल सेविका मालिक की सब वस्तुओं पर ध्यान रखती है, उसी प्रकार से हमारा कर्तव्य है कि हम अपने पुत्र, परिवार व सम्पत्ति की देख-रेख करें। दासी का कर्तव्य केवल मालिक के आज्ञानुचरण में ही होता है। इसी प्रकार हमारा यह भी कर्तव्य है कि ईश्वर की वस्तुओं में ममता छोड़ कर रमण करें। उन्हें अपनी नहीं समझें। उनके आज्ञानुकूल हम उनकी वस्तुओं का संरक्षण कर रहे हैं, यही समझें। एक क्षण के लिए भी ईश्वर को न भूलें। यही विचार अपने सामने रखिए और सब कुछ ईश्वर के निमित्त कीजिए। इस प्रकार अनासक्त भाव से ईश्वर के निमित्त काम करने में आपको क्षति नहीं होगी।

जो कोई भी कार्य आपके समक्ष इच्छापूर्वक अथवा अनिच्छा-पूर्वक आ जाता है, उसको करते चलिए! हिचकिए मत। ईश्वर की प्रेरणा से जो भी आपको समक्ष कर्तव्य रूप से उपस्थित होता है, उसको करते चलिए। अपना निर्वाचन अथवा अपनी सम्मति

का उसमें अवकाश मत दीजिये। किसी भी कार्य पर गुर्राओ नहीं, वरन् सब कुछ प्रसन्नता पूर्वक करते जाओ। किसी प्रकार का भी कार्य क्यों न आ पड़े, उससे छुटकारा पाने का विचार न करो। भयभीत होकर किसी कार्य की अवहेलना न करो। यह केवल कायरता है और पतन का हेतु है। एक सच्चा कर्म-योगी किसी प्रकार के कर्म से भय नहीं खाता है, सहर्ष करने को प्रस्तुत होता है। क्योंकि उसे तो यह सोचना नहीं कि कौन सा कार्य करने योग्य है और कौन न करने योग्य। वह तो सबको ईश्वर प्रेरित समझ कर त्वरित ही कर लेता है। जो व्यक्ति पूर्ण रूप से ईश्वरेच्छा पर निर्भर हो जाता है,वह ईश्वर को ही सब कुछ करते हुए पाता है, प्रत्येक सफलता में ईश्वर का ही हाथ समझता है। और जब हम उच्च दृष्टिकोण को प्राप्त करेंगे तो यह पता चल ही जायेगा कि कोई भी कार्य मूल रूप से बिल्कुल खराब नहीं है, और बिल्कुल अच्छा भी नहीं है। प्रत्येक कार्य अच्छे और बुरे फल का समन्वय है। प्रत्येक कर्म-योगी इसी भावना से प्रेरित होकर काम करता है कि जिससे उसे किसी भी कार्य की असफलता भी न मिले, तथा किसी में उसकी आसक्ति भी नहीं हो। आसक्ति पूर्वक किए गए कर्म ही मनुष्य को बाँधते हैं। व्यर्थ की आसक्ति कर्ता को अयोग्य फल देती है और उसे बन्धन में भी डालती है। एक पुजारी मन्दिर में भगवान् की जैसे तैसे पूजा करता है,किन्तु एक झाड़ू वाला बड़ी ही श्रद्धा सहित झाड़ू दे देता है। वह शूद्र होकर भी प्रेम और भक्ति सहित कार्य करता है, एकाग्रतापूर्वक चित्त को देकर कार्य करता है, अर्थात् कर्म को पूजा मानकर करता है। वह जो कुछ भी करता है, उसे ईश्वरीय कार्य समझ कर करता है। फिर कहिए, ब्राह्मण और शूद्र इन दोनों में कौन श्रेष्ठ कर्मठ हुए ? कौन ईश्वर को अधिक प्रिय होंगे ? अवश्य ही, ईश्वर की दृष्टि में शूद्र अधिक प्रिय और श्रेष्ठ प्रतीत होगा।

एक बार दो मित्र किसी सिनेमा में चित्र देखने के लिए चल पड़े। फिर उन्हें वेश्यालय में भी जाना ही था। राह में उन्होंने देखा कि एक पण्डित महोदय धार्मिक विषय पर प्रवचन दे रहे हैं। उनमें से एक तो वहीं रुक गया और दूसरा सिनेमा के लिए चल पड़ा। वहाँ से चलकर वह वेश्यालय भी पहुँचा। एक व्यक्ति जो धार्मिक प्रवचन में गया था, यद्यपि तङ्ग सा आ गया परन्तु उसने स्थान को छोड़ा नहीं। वह मन ही मन सोचने लगा—"अरे, मैं भी क्या मूर्ख हूँ। मैं सोच कर आया था कुछ और काम के लिए तथा करने लगा कुछ और ही। ये धार्मिक प्रवचन तो निकम्मों के सुनने के लिए होते हैं। इनमें कुछ महत्व थोड़े ही होता है। मेरा साथी कितना भाग्यशाली है कि वह सिनेमा में चला गया। वहाँ तो वह सुन्दरी रमणियों के आलिंगन का सुखास्वाद करेगा।" इसके विपरीत जो सिनेमा तथा वेश्यालय में गया था, मन ही मन दुःख पाकर विचारने लगा—"अरे, मैंने यह क्या कर लिया है? आज कितना लज्जास्पद कार्य मैंने किया है! मैंने अपना समय गँवाया, मूल्य और शक्ति भी गँवाई। मैंने व्यभिचार किया है। मैंने पाप किया है। मेरा मित्र कितना चतुर सिद्ध हुआ। वह तो धार्मिक प्रवचन सुनने के लिए चला गया।" यों सोचता हुआ वह प्रायश्चित के रूप में ईश्वर से प्रार्थना करने लगा और कहने लगा कि "प्रभु मैंने गल्ती की है, क्षमा करो। मुझे सन्मार्ग सुझाओ।" अब जरा सोचिए, दोनों में से कौन सा मित्र सबसे श्रेष्ठ था? जो व्यक्ति सिनेमा और वेश्यालय में गया, वह तो धार्मिकता की ओर अग्रसर था। किन्तु जो अभागा धार्मिक प्रवचन में गया वह कुत्सित विचारों से ग्रस्त हुआ। फिर कहिए, कौन सा अधिक पाप का भागी सिद्ध होता है। यही तो वास्तविक उद्देश्य की ओर प्रेरणा है।

गीता का उपदेश शुरू होता है इस अवस्था में जबकि अर्जुन धर्म-युद्ध करने के लिए इनकार कर जाता है। जबकि वह अपने

ही परिवार के जनों को मारने में हिचकने सा लगता है। परन्तु श्री कृष्ण अपने लम्बे उपदेशों के द्वारा अर्जुन की भीति को हरण कर लेते हैं और उसे कर्तव्य एवं कर्म-योग की महिमा बतलाते हुए युद्ध में प्रेरित करते हैं। धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझाते हुए भ्रान्ति का अपहरण किये लेते हैं। कुरुक्षेत्र के मैदान में श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन! जो कुछ तुम करते हो, जो कुछ तुम खाते हो, जो कुछ तुम हवि के लिए देते हो, जो कुछ तुम दानस्वरूप देते हो, जो कुछ तुम तपस्या करते हो, सब मेरे लिए ही करो। इस प्रकार तुम कर्म के फलाफल—बन्धन से छूट जाओगे। वैराग्य में चित्त को देते हुए मुक्त होकर मेरे पद को प्राप्त करोगे। यदि तुम अभ्यास कर सकने में अयोग्य भी हो तो कोई चिन्ता नहीं, सब कुछ मेरे लिए ही करते हुए—अन्त में मुझे ही प्राप्त करोगे। अन्त में पूर्णता को प्राप्त करोगे। यदि तुम इतना भी न कर सकते हो तो मेरी शरणागति ग्रहण करते हुए, आत्मसंयम और अनासक्ति योग द्वारा मुझे ही प्राप्त करने की चेष्टा करो। सारे कर्मों को मुझमें अर्पित करते हुए तथा मुझमें शरण लेते हुए तुम दिव्य अमरत्व पद को निःसन्देह प्राप्त करोगे। मन से सारे कर्मों का मुझमें उपसंहार करते हुए तथा मुझे ही अपना लक्ष्य समझते हुए तुम बुद्धि का मुझमें उपनिवेश करो। अपने चित्त को मुझमें आसक्त रहने दो।" इन शब्दों के द्वारा भगवान् श्री कृष्ण यह अर्जुन से बता देना चाहते हैं कि सारे कर्मों में शुभ और अशुभ गुण रहते ही हैं। उनके फल से छूटने का एकमात्र उपाय है आसक्ति का परित्याग। सारे कार्य को ईश्वरीय समझते हुए उसके साथ फल की आकांक्षा को न जोड़ते जाना ही कर्म-योग है। और कर्म-योग का वास्तविक अनुसरण ही कर्म-बन्धन का विनाशक है।

गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से यह भी कहते हैं—"तुम्हें कर्म मात्र करने का अधिकार है, न कि उसके फल के लिए तुम तरसा करो।" श्री कृष्ण के ऐसा कहने से क्या अभिप्राय है? क्या किसी फल की आकांक्षा बिना भी कर्म किया जा सकता है? हाँ, यही आसक्ति हमें कर्म के फलों में बाँधकर दुःख देती है। फल की आशा और तृष्णा ही मन की शान्ति को हमसे छीन ले जाती है। यही चिन्ता हमारे भय, बन्धन और त्रास का द्वार है। यह चिन्ता अथवा वासना हमारे अहंकार पर निर्भर है। इसलिए जो भी कार्य किए जायें, वे बिना किसी फल की आकांक्षा से किये जायें—तथा वापसी में कुछ पाने की लालसा भी प्रशमित रहे। फल की आकांक्षा फल के भरोसे ही छोड़ दो, केवल कर्म करते जाओ—यही तुम्हारा ध्येय है। फल का निर्णय ईश्वर के जिम्मे छोड़ दो। जो कुछ तुम करते हो उसका प्रत्येक अंश ईश्वर को देते चले जाओ। वह जैसा चाहे, वैसा करे। करने वाले तुम बनकर रहो और तुम्हारे किए हुए के परिणाम को देने वाला ईश्वर बना रहे—यही कर्म-योग का रहस्य है। तुम जो कुछ बोते हो, वही तो काटोगे। जितनी श्रद्धा ईश्वर में तुम्हारी रहेगी, उसी के अनुपात से फल भी तुम्हें प्राप्त होगा। अच्छे कार्य अच्छे फल के जनक होंगे तथा बुरे कार्य बुरे फल की विपदा लायेंगे। हम पहले कह ही आये हैं कि प्रत्येक कार्य अच्छे और बुरे फलों से बना हुआ है। जो अच्छे फल की लिप्सा रखता है, उसे बुरे में भी फँसना पड़ेगा। इसलिए कुशल कर्म-योगी की यही अभीप्सा होनी चाहिए कि वह जो करे वह ईश्वर के निमित्त ही करे तथा फल की आकांक्षा छोड़ता हुआ करे। केवल कर्म के लिए ही कर्म करे, कर्म-फल के लिए नहीं। ईश्वर की ओर से आज्ञारूपेण जो भी कार्य आता है, सबको सहर्ष करता रहे, किसी प्रकार के फल की पिपासा नितान्त छोड़ दे। यही नहीं, बल्कि किसी प्रकार

के कर्म में हिचके भी नहीं–जो कुछ भी आता है सब ईश्वर की आज्ञा ही है। फिर उसे करते रहना ही हमारा कर्तव्य है, उसमें हीला-हवाला करने वाले हम कौन हुए ? जो कुछ भी कार्य करें, उसमें चित्त और बुद्धि सहित आत्मा को लगाकर करें तथा कार्य की इति के बाद ही अपने उत्तरदायित्व की इति समझें। इसके अतिरिक्त किसी और चीज़ के लिए मनुष्य को व्यथित नहीं होना चाहिए। जब इस भावना से प्रत्येक कार्य किये जायें तो उनका परिणाम बहुत ही श्रेष्ठ होगा और तभी कर्म-योग की परिभाषा सार्थक होगी।

कमल जल और पङ्क में उत्पन्न होता है, परन्तु जल और पङ्क से सर्वथा पृथक् रहता है। नाव जल के अन्दर सुरक्षित रखी जाती है परन्तु नाव के अन्दर कभी जल का प्रवेश नहीं होता। यदि जल नाव में आने लगे तो यह आपत्ति का हेतु होगा। इसी प्रकार लोगों को संसार में रहना चाहिए,पर संसार लोगों में न रहे। यही तो रहने की कला है। इसके विपरीत रहना ही सांसारिक रहना कहा जाता है, नहीं तो फिर सांसारिकता कैसी? यदि संसार आपके अन्तर्गत हो जाता है, तभी दुःख और वेदनाएँ समाती जाएँगी—अन्यथा आप निर्बन्ध भाव से रहें तो संसार क्या कर सकता है ? संसार और अपनी इन्द्रियों की तुच्छ वस्तुता में आसक्ति ही बन्धन और दुःख का हेतु होता है। यह आसक्ति ही है जो मनुष्य को पतन में खींचकर ले जाती है। एक अनासक्त व्यक्ति संसार में रहता है और प्रसन्नता पूर्वक रहता है, क्योंकि संसार तो उसमें नहीं है। वह यद्यपि संसार में है, पर संसार उसमें नहीं है।जल और पङ्क पर रहने वाले कमल से रहने की कला सीखनी चाहिए। यदि इस आसक्ति रूपी बन्धन से कोई मुक्त हो जाये तो वही मुक्ति है। प्रत्येक को संसार में मालिक की तरह रहना चाहिए। किसी भी वस्तु को अपना नहीं समझना चाहिए।

किसी वस्तु में आसक्त होना उसकी दासता कही जाती है। वह व्यक्ति भला मुक्ति और सुख को कैसे प्राप्त कर सकता है।

कर्म-योग यह नहीं कहता है कि गृहस्थों को ईश्वर-साक्षात्कार नहीं होगा। इसके अनुसार तो प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की पदवी तक पहुँच सकता है, यदि तदनुकूल सन्मार्ग का अवलम्बन करे। एक गृहस्थ के धर्म से एक वानप्रस्थी का धर्म भिन्न होता है। फिर धर्म की भावना प्रत्येक राष्ट्र और जाति के अनुसार बदलती रहती है। धर्म की जो भी भावना हो, अथवा धर्म सम्बन्धी जो भी जीवन का आदर्श हो—कर्म-योग की शिक्षा तो यही है कि सबको अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिए। सच्चाई और ईमानदारी पूर्वक स्व-धर्म का पालन करना ही मानव का सर्वप्रथम कर्तव्य होता आया है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं, "हे अर्जुन, हर एक व्यक्ति अपने-अपने कर्मों में लगा हुआ उस परम पद को एक दिन प्राप्त कर लेगा। जिससे यह विश्व-प्रपञ्च सर्जित हुआ, जिसमें स्थित है और जिसके अन्दर यह विलीन होने वाला स्वभाव का है। उसी की अर्चना करो तुम परमपद को प्राप्त करोगे। अपना धर्म यदि अपूर्ण भी हो तो उसी का पालन करना चाहिएं। दूसरे के राग-रङ्ग से हमें क्या लेना? प्रकृति-प्रदत्त आज्ञाओं का जो उल्लंघन नहीं करता, वही गल्तियों से मुक्त है। हे कौन्तेय! अपने जन्मागत धर्म को भी कभी नहीं छोड़ना चाहिए। यद्यपि यह दिक्कतों से भरा हो, कठिनाइयों से भरा हो, फिर भी हमारा धर्म हमारा ही है। इसका अनुकरण अवश्य करता रहे यद्यपि यह खतरे से भरा हो जैसे धूयें के भीतर अग्नि छिपी मिलती है। जिसका हृदय निर्मल है, जिसकी आशायें छूट चुकी हैं, वह परम-पद को प्राप्त करता है। वह वैराग्य-पथ से मुक्ति को प्राप्त करता है। वह अनासक्ति योग द्वारा मुझसे संबन्ध कर लेता है।"

कर्म-योग यह नहीं कहता कि विवाहित पुरुष घर-बार छोड़कर जंगल की शरण लेवे। सत्यत्व की खोज के लिए वह घर को छोड़ दे। कर्म-योग की ऐसी शिक्षा नहीं है। कर्म-योग के अनुसार गृह और गृहिणी सहित बच्चों को छोड़कर चलने की कदापि सम्मति नहीं है। वह असहाय माता-पिता को भी छोड़कर चलता बने। यदि कोई ऐसा करता है तो वह महान् पाप है। ऐसा व्यक्ति कभी भी आध्यात्मिक पथ पर अभिगमन नहीं कर सकता है। वह कदापि अन्तिम लक्ष्य की अभिपूर्ति नहीं कर सकता है। वैराग्य का सिद्धान्त स्वधर्म को छोड़ पड़ने के बिल्कुल विपरीत है। यह तो भीरुतावशात् एवं अपने धर्म की यथार्थता के अज्ञानवशात् ही अपने गार्हस्थ्य के उत्तरदायित्व को छोड़ना कहा जाता है। यह तो मानवीय दुर्बलता है और मृत्यु से बढ़कर है। कार्य को छोड़कर भाग जाने से छुट्टी नहीं मिलती और न ही इसे वैराग्य कहते हैं। प्रत्येक को संसार से मुकाबला करना चाहिए और साथ ही ईश्वर पर निर्भर भी रहना चाहिए। यही अपनी मुक्ति का श्रेयस्कर मार्ग है। यही बन्धन की निवृत्ति का प्रमुख माध्यम है।

एक बार एक सन्यासी महोदय तपस्या करने के लिए जंगल में आ पड़े। वे बहुत काल पर्यन्त पेड़ के नीचे शयन करते हुए रहे, जंगली फल-मूलों के भक्षण पर निर्वाह करते रहे। दीर्घ काल पर्यन्त इस प्रकार की कठोर तपस्या के अनन्तर उनमें अलौकिक शक्ति का सन्निवेश हुआ। एक बार जबकि वे तपस्या में लीन थे, ऊपर पेड़ की शाखा पर एक कौआ और एक सारस परस्पर झगड़ने लगे। उन दोनों के कलह से कुहराम सा मच गया और इससे कहना नहीं होगा कि तपस्वी जी को बड़ी बाधा सी पड़ गई। गुस्से में आकर आपने पेड़ पर दृष्टि फेंकी। सहसा ही दोनों कलहायमान पक्षी भस्म हो गए। तपस्वी जी ने जब अपनी शक्ति की परख

की तो फूले न समाये और विचार किया कि अपनी शक्ति द्वारा वे विश्व को प्रभावित करें, यों कीर्ति उपार्जन करें।

ऐसा विचार कर तपस्वी जी ने जंगल का परित्याग किया—और पास के ही गाँवों में चले गए। प्रकृतिवश उन्हें जब क्षुधा लगी तो किसी गृह के द्वार पर भिक्षार्थ आ गए। वहाँ एक सौभाग्यशाली दम्पति का निवास था। पति की अवस्था कुछ खराब थी, इसलिए पत्नी उसकी परिचर्या कर रही थी। भिक्षुक ने जब आवाज़ लगाई तो गृहिणी ने कहा कि—'जरा ठहरिये, अभी आ रही हूँ।' वह पति की सेवा में संलग्न थी। वह तपस्वी जरा तुनक पड़ा और क्रोध के आवेग में आकर महिला की ओर देखने लगा। वह विचार यही कर रहा था कि इस महिला को भी जला कर भस्म कर दूँ। महिला उसके मनोभावों को समझ गई और उसकी ओर डाँटते हुए कहने लगी—"हे तपस्वी पुत्र! अपनी अलौकिक शक्ति को पाकर तुम दंभ में फूलो मत। यहाँ न तो कोई कौआ है और न कोई सारस ही, जो तुम्हारी आँखों से भस्म हो जायेगा।" वह तपस्वी महिला की बातें सुनकर चकरा गया और अपनी शक्ति की विफलता पर उसे लज्जा भी आ गई। वह विचार विनिमय करने लगा कि यह महिला भला कैसे मेरी शक्ति को पहचान गई तथा यह भी जान गई कि कौआ और सारस को भस्म करता हुआ मैं आया हूँ। यह घटना तो गहन जंगल में घटी थी तथा किसी ने भी इसका निरीक्षण नहीं किया था। इस प्रकार उधेड़-बुन में पड़ा हुआ तपस्वी यह जानने की इच्छा करने लगा कि किस प्रकार महिला को वह घटना मालूम पड़ गई, क्योंकि यह तो शून्य जंगल में घटित हुई थी। वह तपस्वी यों विचार करता हुआ महिला की राह देखने लगा। पति की प्रचुर परिचर्या कर लेने के बाद वह गृहिणी अञ्जलि में भिक्षा लिए साधु के पास आई। उससे भिक्षा तो ग्रहण की परन्तु कुतूहल वश यह भी पूछे

बिना उससे नहीं रहा गया कि दूर वन की घटना तथा अपनी अलौकिक शक्ति के बारे में गृहिणी ने कैसे जाना ? वह महिला सुनकर मुस्कराई और कहने लगी—"मैं तुम्हारे योग और शास्त्र के विषय में अधिक तो जानती नहीं। मैं सतीत्व का यथेष्ट पालन करती हूँ। और अनासक्ति पूर्वक कार्य करने में कुशल हूँ। कार्य के फल की आकांक्षा हमारा ध्येय नहीं है। जब तक मैं कुमारी थी, अपने माता-पिता एवं भाई-बहिनों की यथावत् पूजा-सेवा की। उन्हें हृदय दिया और मन भी। सब कुछ करती हुई भी मैं किसी प्रकार के फल की आकांक्षा नहीं रखती थी। इसके अतिरिक्त मुझे किसी जीव के प्रति घृणा का भाव बरतना नहीं आता था। मैंने सबको प्रेम भरा पुचकार दिया। मुझमें घृणा, द्वेष, आसक्ति का नाम-निशान भी नहीं था। मैंने ब्रह्मचर्य सहित सब किसी का आज्ञानुपालन किया।-मैं हमेशा सत्यवादिनी थी। अब मैं विवाहिता हूँ और अपने पति की यथेष्ट शुश्रूषा करती हूँ। मैं उन्हें देवता समझकर ही पूजन-वन्दन करती हूँ। उनमें प्रेम और भक्ति रखती हूँ। मैंने कामुक नेत्रों से किसी पुरुष का मुख नहीं देखा। काया, वाचा और मनसा मैं ब्रह्मचारिणी हूँ। सतीत्व के अवलम्बन, अनासक्ति पूर्ण कर्म तथा फलाकांक्षा राहित्य रूपी तप के द्वारा मैंने सत्यत्व को उच्चतम सीढ़ी पार की है। यदि तुम कर्मयोग के विषय में और कुछ अधिक जानना चाहते हो तो पास के ही गाँव में चले जाओ। वहाँ एक व्याधा रहता है। उससे तुम पर्याप्त शिक्षा ग्रहण कर सकोगे।

वह साधु अत्यधिक ही व्यग्र हुआ और झटपट महिला को प्रणाम करके तथाकथित व्याधे की खोज में चल पड़ा। उस गाँव में पहुँचकर उसने व्याधे का पता लगाया और उसे देख कर दूर से ही समझ लिया कि यह व्याधा है। कुछ अधकटे और चिथड़ों के रूप में पशुओं का यूथ लटक रहा था, पास बहुतेरे

ग्राहक खरीदने के लिए खड़े थे—वह व्याधा बड़ी तीव्रता से काम करता चला जा रहा था। सबको तुष्ट करता जा रहा था। साधु ने जब ऐसी बीभत्स दशा देखी तो उसे घृणा जैसी होने लगी। वह मन ही मन सोचने लगा—"भला, ऐसी परिस्थिति में रहने वाले पशु रूपी मनुष्य से क्या शिक्षा ली जा सकती है? यह तो स्वयं निकृष्ट कोटि का व्यक्ति है। भला धर्म के विषय में इसको क्या ज्ञान होगा? फिर वस्तुता का बोध इससे मैं क्या कर पाऊँगा?" जबकि वह ऐसा मन ही मन विचार कर रहा था, व्याधे ने उसे पुकार कर बुला लिया और कहा—"अच्छा आप यहाँ मेरी खोज में आए हैं। उस सती स्त्री ने आपको मेरे पास भेजा है। आइये, मेरे समीप स्थान ग्रहण कीजिये।" इस प्रकार सुनकर साधु जी तो बड़े परेशान हुए और उन्हें दुबारा सदमा जैसा लग गया। जो कुछ भी हो वे तो जिज्ञासु रूप में आए थे और उन्हें सत्यता की खोज थी—इसलिए बैठ पड़े। योगी महाशय को यों बिठाकर व्याधा अपना काम करता ही गया—जबकि दोपहर का समय हो चुका था। दूकान बन्द करने का जब समय आया, तो व्याधे ने पूँजी गिन ली, फिर उनको खाते में दर्ज कर लिया—और जो भी आवश्यक कार्य थे सब कर लिए और तब दूकान को बन्द करके साधु जी को भी लिए हुए घर आया। साधु जी उसके साथ घर पर गये, वहाँ भी व्याधे ने उनके लिए आसन और अर्घ्य दिया, स्वागत पूर्वक बिठाया तथा स्वयं अन्दर जाकर बूढ़े पिता और माता की खबर ली। उनकी परिचर्या की। उन्हें स्नान और भोजन इत्यादि में सहायता दिया। भोजन के हो चुकने पर दोनों के विश्राम के लिए प्रबन्ध कर दिया। फिर उसने स्वयं स्नान किया, और साधु को निमन्त्रित करके भोजनादि कराया। इतना सब कुछ करा देने पर व्याधे ने उपदेश प्रारम्भ किया। योगी ने पूछा कि ऐसा गर्हित कार्य आप क्यों कर रहे हैं—जबकि आप इतने बड़े

ईश्वर-तत्वज्ञ हैं। उत्तर में व्याधा ने कहा कि उसका जन्म ही व्याधे के परिवार में हुआ था। इसलिए उसे इतना करना ही पड़ता है। स्वधर्मानुकूल कर्म करना प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है। अनासक्ति की भावना पूर्वक कसाई का ही कर्म करते हुए मुक्ति की संभावना की जाती है। ईश्वर के निमित्त सब कर्मों को अर्पित करता हुआ तथा फल की आकांक्षा के बिना जो कोई भी कुछ करता है, वह सच्चा कर्म-योगी है और उसे अन्तिम गति के रूप में मोक्ष ही प्राप्त होता है। कर्म-योग के रहस्य को ठीक-ठीक जानने वाला तथा ईश्वर-निमित्त सब कर्मों को करने वाला उसी लक्ष्य को हस्तगत करता है, जिसे मोक्ष की संज्ञा दी जाती है। उसने कहा—जाति-पाँति और वर्ण-भेद—ये सब मुक्ति के मार्ग में अड़चन नहीं हैं। एक पुरोहित, एक सैनिक, एक व्यापारी और एक झाड़ू वाला—यह सभी उस लक्ष्य को अपने-अपने कर्मों को अनासक्ति और फलाकांक्षा के राहित्य की भावना पूर्वक करते हुए प्राप्त करते हैं। चित्त की एकाग्रता और कर्मों में फलों की आशा का परित्याग—ये ही दो कर्म-योग के मुख्य पहलू हैं। इनका अनुपालन करता हुआ किसी भी जाति, वर्ण और व्यवस्था का व्यक्ति मोक्ष की पदवी को प्राप्त कर लेता है। एक कर्म-योगी को चाहिए कि दो-एक सन्तान के हो जाने पर ब्रह्मचर्य का सम्यक् अवलम्बन करे। सन्तान की उत्पत्ति के लिए ही दाम्पत्य जीवन है। परम्परा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व जब समाप्त हो चुकता है तब दम्पति का कर्तव्य है कि वे ब्रह्मचर्य का पालन करें। बिना ब्रह्मचर्य में पर्यवस्थित हुए कोई भी आध्यात्मिक साधना का मार्ग तय नहीं कर सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को सदाचारी, सत्यवादी तथा कृपालु स्वभाव का भी होना चाहिए। जीवों पर दया करना, दूसरों पर रहम दिखाना—ये ही तो मानवीय गुण हैं। एक व्यक्ति पुजारी होकर भगवान् की पूजा ही क्यों न करता फिरे, किन्तु

यदि वह ब्रह्मचर्यशील नहीं है, सत्यप्रिय नहीं है, दूसरों के प्रति सहृदय और उदार नहीं है, तो वह कसाई और झाड़ूवाले की पदवी से भी च्युत है। इसके विपरीत एक सैनिक युद्ध ही करता हुआ, एक व्यापारी व्यापार ही करता हुआ, एक झाड़ूवाला झाड़ू ही देता हुआ यदि सच्चा और ईमानदार है तो जीवन में उसकी विजय होती है। यदि वह उदार व स्वधर्मानुचारी है तो बेशक ही पण्डितों-पुरोहितों से शत गुणा श्रेष्ठ है। इसलिए जाति, सम्प्रदाय अथवा वर्ण की व्यवस्था से ईश्वरत्व की सिद्धि नहीं होती, बल्कि जिससे होती है वह सचाई, चित्तैकाग्रता इत्यादि गुणों का समुदाय है। काम्यकर्मों का परित्याग, कर्मों में आशा का राहित्य, फल की आकांक्षा से नितांत मुक्ति की भावना—ये ही साधन मुक्ति में सहायक हैं। यही वस्तुतः सन्यास है। वस्त्रों के बदल लेने से, नाम बदल लेने से, स्थान बदल लेने से—कदापि मोक्ष की सिद्धि नहीं होती देखी गई है। मन का परिवर्तन, आसक्ति का अभाव, ईश्वर में निष्ठा ये ही सब गुण हैं जिनकी आवश्यकता है। आन्तरिक परिवर्तन की आवश्यकता है न कि बाहरी वस्त्र बदलने मात्र से मोक्ष सुलभ हो सकता है। बाहरी परिवर्तन भी कुछ न कुछ आन्तरिक सिद्धि में सहायक है, परन्तु सर्वथा नहीं। वास्तविक परिवर्तन कुछ और ही है। जिस व्यक्ति के मन में कुछ आशा नहीं है, जो अपनी इन्द्रियों और मन का स्वामी है—वही सच्चा सन्यासी है। केवल बाहरी वेशभूषा में परिवर्तन ले आने वाले सन्यासी नहीं कहे जाते। जिसने अपने चित्त पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया है, जिसने अनासक्ति की सनातन भावना को परख लिया है, वही मोक्ष का अधिकारी है, वही सन्यासी है। बाहरी गैरिक वस्त्रधारी नहीं होते हैं। ऐसे पुरुष को कोई बाँध नहीं सकता। इसकी कोई क्षति नहीं कर सकता।" व्याधे ने उपरोक्त विधि से उपदेश समाप्त किया। उपदेश सुनकर साधु जी का

गर्व जाता रहा। वे वास्तविक ज्ञान को प्राप्त हुए और व्याधा को प्रणाम कर पुनः जङ्गल को चल पड़े। उनकी तपस्या अधूरी थी अभी जिस और प्रचुर तपस्या की जरूरत थी उसकी परिपूर्ति के लिए चल पड़े। हाँ, तपस्या वही है—जिसका परिणाम मनोनाश और अहंकार-दमन होता है। कुछ बाहरी शक्तियों की प्राप्ति कर लेने मात्र से तपस्या क्या बनी ?

इसलिए निष्कर्ष यही निकला कि हम सबों को संसार में ही रहना चाहिए। परन्तु संसार का स्वामी होकर रहना उचित है, न कि दासता में या बन्धन में। कर्म-योग में सबसे पहली सीखने की वस्तु है अनासक्ति। जो व्यक्ति अनासक्ति योग में पारंगत है, वह कहीं भी रहे, सुरक्षित ही रहेगा। घृणा और प्रेम से पूर्ण संसार में रहते हुए भी इन दोनों से कैसे दूर रहा जाता है, यही तो सीखना चाहिए। सौन्दर्य के लिए सौन्दर्य का उपभोग करो। परन्तु ज्योंही वह सुन्दर वस्तु तुम्हारी आँखों से ओझल होती है, उसके लिए शोक मत करो। उसके पृथक् होने से दुःखित मत होओ। एक कर्म-योगी का ध्येय यही होना चाहिए कि वह सुख और दुःख में-तथाविध सभी द्वन्द्वों में मन के सन्तुलन को बनाये रखे। किसी सुन्दर वस्तु को पाकर उसकी सफलता में प्रहर्षित नहीं होना चाहिए तथाविध एक असुन्दर वस्तु को पाकर विफलता में शोक भी नहीं करना चाहिए। जब तक तुम अनासक्ति के लक्षण को ठीक-ठीक समझ नहीं लेते हो, निःशंसय ही तुम्हें वस्तु की प्राप्ति और अप्राप्ति में सुख, दुःख होगा, परन्तु इनका अतिक्रमण कर लेना चाहिए। सफल कर्म-योगी बनने की कला अनासक्ति योग पर ही निर्भरित है। पाप और पुण्य में सन्तुलित रहना एक सच्चे कर्म-योगी द्वारा ही संभव है। कोई भी कार्य जिसके करने से हमें वेदना हाथ आती है, वह कर्म-योग नहीं है। कर्म-योग का परिणाम हमेशा ही मोदक और प्रसन्नतादायक होता है। किसी कार्य व

वस्तु को घृणा करना, उसे प्रेम करना अथवा उसमें आसक्त हो जाना, उसका इच्छानुकूल त्याग भी कर देना—ये सभी कर्म-योग में बन्धक हैं। हमें चाहिए कि सब कुछ कुशलता से झेलते चलें। संसार की बहुरङ्गी चीज़ों को देखते हुए उसका अपने ऊपर प्रभाव नहीं लेना चाहिए। केवल चलचित्र की तरह उसका दर्शन ही पर्याप्त है। उसके बीच आसक्ति से रहित होकर विचरण करना ही कर्म-योग की कला है। हमें तो साक्षी की तरह बर्ताव करना चाहिए। यदि कोई संसार के सब कार्यों को करता हुआ मन के ऊपर उसका कोई प्रभाव नहीं लाता है तो वह बेशक ही अनासक्ति योग का ज्ञाता है। आसक्ति ही मन के ऊपर बुरा प्रभाव डालती है। मतलब की वस्तु के वियोग में भयंकर ज्वाला जल उठती है। वस्तु के प्रति प्रेम व घृणा होने का अभिप्राय ही है कि मन पर उसके प्रभाव को पड़ने देवें, और यही तो अनर्थ का हेतु है।

मान लीजिए, एक व्यक्ति अपने गाँव के घर से किसी शहर को जाता है। रास्ते में वह नाना प्रकार की रङ्गरेलियों और दृश्यों को देखता है। वह एक वस्तु को देखता है, कुछ काल तक उसका उपभोग करता है, फिर दूसरी वस्तु को उपस्थित होते ही प्रथम वस्तु को भूल जाता है। इस प्रकार वह विभिन्न वस्तुओं को देखता सुनता हुआ नगर में पहुँच जाता है। नगर में वह जनता की भीड़, नर-नारी, बच्चे और दूकानों को देखता है। एक-एक करके वह सबका साक्षित्व करता जाता है। इन सब परिवर्तनशील चीज़ों के दर्शन के साथ ही सहसा वह अपने सहृदय मित्रवर को देखता है। एक लम्बी अवधि के बाद दोनों मित्रवर परस्पर मिलते हैं। आनन्द के अतिरेक में आकर दोनों परस्पर मिल जाते हैं, आलिंगित हो जाते हैं। कुछ क्षण पर्यन्त दोनों मित्र आपस में मिल-जुलकर अपने-अपने अन्य कार्य के लिए फिर अलग हो जाते हैं। इस प्रकार नगर में अपने कार्य की पूर्ति कर व्यक्ति फिर घर को

वापस जाता है। सायंकाल अपने घर को पहुँचकर वह सारे नर-नारी और समूह के चित्रों को भूल जाता है। रास्ते में तथाविध और स्थलों में भी जिन दृश्यों को वह देखता हुआ आया था, सबको सहसा भूल जाता है। परन्तु मित्रवर से मिलने वाली बात, उनसे मिलकर अनुभूत आनन्द की यादगारी सदा उसकी स्मृति में बनी रहती है। ऐसा क्यों? उसने तो अपने मित्र से भी सुन्दर कितने नर-नारी को देखा, फिर उसकी ही याद क्यों आती रही, सबों की क्यों नहीं? इसका कारण आसक्ति ही है। जिन-जिन वस्तुओं का वह साक्षात्कार करता गया, उनमें किसी के प्रति भी उसकी आसक्ति नही थी। मतलब तो केवल मित्र से था इसलिए प्रेम और आसक्ति भी उनमें ही थी। औरों को तो यों ही उसने देख लिया। वह साक्षी के रूप में और सब वस्तुओं का संदर्शन करता चला गया, किसी में आसक्त नहीं हुआ। इसलिए मन पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा। इसके विपरीत वह अपने मित्र को प्यार करता था, इसलिए उसके दर्शन-मिलन के संस्कार व्यक्ति पर दृढ़ता पूर्वक पड़ गए! प्रेम और आसक्ति के द्वारा ही उसके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

मान लीजिए, वही व्यक्ति कुछ खरीदने के लिए दूकान पर जाता है। दूकानदार बड़ी क्रूरता से उसके साथ पेश आता है और कुछ बुरी रीति से व्यवहार भी करता है। वह व्यक्ति दूकान-दार से झगड़ा उठा लेता है और नतीजा पुलिस के जिम्मे भी जा पहुँचता है। इस प्रकार वह एक मुकदमे का रूप धारण कर बैठता है। वह व्यक्ति बहुत खिन्नता महसूस करता है और उदासी लिए ही घर को वापस जाता है। इसके रूखे व्यवहार से असन्तुष्ट होकर वह बहुत ही दुःखी हो चुकता है। घर आकर उसे और कुछ कार्य सूझता नहीं, बल्कि उसी के व्यवहार से हुए दुःख से सन्तप्त रहने लगता है। नगर में जो कुछ भी उसने भीड़, भगदड़ों,

पुरुष और बच्चों को देखा था—सब कुछ भूल जाता है और उसी दूकानदार की चिन्ता सताती रहती है। उसका ही चेहरा सामने दिखाई पड़ता हुआ प्रतीत होता है। उसकी ही स्मृति बनी रहती है। कहने का अभिप्राय यही कि अत्यधिक घृणा और अत्यधिक प्रेम से मनुष्य के चित्त पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जैसे प्रेम और आसक्ति व्यक्ति के हृदय पर गहरा प्रभाव डालती है, वैसे ही द्वेष और दुर्भाव भी चित्त पर बुरे प्रभाव डालते हैं। इसलिए प्रत्येक कार्य अनासक्ति और द्वेष के राहित्य पूर्वक किया जाना चाहिए। यदि मनुष्य उक्त उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर कार्य करता रहे तो कर्म उसे बाँध नहीं सकेगा। कोई भी कर्म अपना प्रभाव उसपर डालकर जा नहीं सकेगा। यों प्रत्येक कार्य हमारे लक्ष्य तक पहुँचने में सहयोगी हो सकता है।

यह कर्म नहीं है, बाहरी कोई कार्य नहीं है—जो व्यक्ति को विवश करके बाँधता है, बल्कि यह आन्तरिक उद्देश्य में भेद के कारण होता है। आसक्ति के प्राचुर्य के कारण ही मनुष्य कर्मफलों से बँधकर प्रारब्ध का निर्माण करता है। कोई भी कार्य स्वतः न तो खराब है और न अच्छा। प्रत्येक कार्य अच्छे और बुरे फल का मिश्रण है। जिस कार्य को हम अच्छा कहते हैं, उसमें कुछ बुराई भी है। उसी प्रकार किसी कार्य को यदि हम बुरा कहते हैं तो उसमें अच्छाई भी कुछ है। यदि अच्छाई उसमें प्रधान है, तो उसे अच्छे कर्म की संज्ञा दी जाती है, यदि बुराई उसमें अधिक है तो उसे बुरे कर्म की संज्ञा दी जाती है। यह सब होते हुए भी बुराई और अच्छाई कर्मों के साथ चलती है। कर्म और कर्म का फल—इन्हें कोई छुटा नहीं सकता। प्रत्येक कर्म के लिए एक कर्म-फल अवश्य चाहिए। प्रत्येक कार्य के लिए एक कारण अवश्य चाहिए। अच्छे कर्म अच्छे फल के उत्पादक बनते हैं तथा बुरे कर्म बुरे फलों को उत्पन्न करते हैं। आनन्द और शोक—हर्ष और दुःख—

जो कुछ भी आज हमें मिल रहा है, यह सभी पूर्वकृत कर्मों का ही परिणाम है। जितने भी शुभा-शुभ कर्म हमने किए हैं, उसके ही अनुसार आज हम अनुवर्तन कर रहे हैं। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म हमारे बन्धन के हेतु होते हैं। वे सब स्वर्ण तथा लौह की शृङ्खला के सदृश हैं। दोनों प्रकार की शृङ्खलाएँ हमारे बन्धन के लिए ही होती हैं।

फिर, जो कार्य एक समय शुभ है, दूसरे समय अशुभ माना जाता है। परिस्थिति के अनुकूल कार्यों में परिवर्तन होता रहता है। शीत और उष्णता प्रदान करने वाले भोज्य और अन्य सामग्रियों के प्रयोग यदि हम तदनुकूल जलवायु वाले स्थानों में करें तो उचित है। अर्थात् शीत प्रदेश में उष्ण प्रदायक भोजन करें, चिमनी की आग जलाएँ—एवंविध गर्मी के प्रदेश में शीतप्रद भोजन करें तथा ठंढ पेय का पान करें तो शोभन है। परन्तु उसके विपरीत प्रयोग से आपदाएँ आयेंगी। गर्मी के समय में आग जलाना शुरू कर दें और गर्म भोजन खाना शुरू कर दें-उसी प्रकार ठंढी के समय में नंगे सैर करना तथा ठंढक पेय पीना शुरू कर दें तो क्या परिणाम होगा? यह शरीर के लिए हानिकर ही तो होगा। यद्यपि वस्तुएँ वही हैं परन्तु ऋतु परिवर्तन के फेर से उनके प्रयोग में यदि फेर नहीं किया जाए तो वे हानिकर सिद्ध होंगी। उदाहरण के रूप में लीजिए, जैसे कोई महिला सख्त बीमार है। एक चिकित्सक आता है। चिकित्सक को चाहिए कि महिला के अङ्ग प्रत्यङ्ग कीं परीक्षा लेकर औषधि दे। लेकिन वह आलसी डाक्टर अधूरा ही काम करता है। कहीं-कहीं कुछ देख-सुनकर औषधि दे जाता है। इसका परिणाम क्या होगा? कहीं-कहीं रोगों का निवारण होगा और कहीं-कहीं नहीं हो सकेगा। इस प्रकार रोगों से आक्रांत होती हुई महिला स्वर्ग सिधार जायेगी। डाक्टर की सरासर गलती के कारण रोगी की यह जान ही चली ही गई। उसकी असावधानी

ही मृत्यु में हेतु हुई है। इसलिए महिला की मृत्यु का पाप डाक्टर के जिम्मे ही पड़ता है। यदि, इसके विपरीत चिकित्सक महोदय जरा कृपालु होते हैं तो ठीक-ठीक परीक्षा में सफल होते हैं और महिला की जान रह जाती है। एक रोगी के प्राण बचाकर उसे अगणित पुण्यों का भागी बनना पड़ता है। वही चिकित्सक महिला के अवयवों की कामुक पूर्ण भावना से परीक्षा करता है तो यह व्यभिचार का दोष है। यद्यपि चिकित्सक का चिकित्सा-कार्य एक ही है, परन्तु दृष्टिभेद से तथा उद्देश्य के भेद से यह कई प्रकार के परिणाम को लेकर प्रस्तुत होता है। इसीलिए हम कह आए हैं कि कार्य एक होते हुए भी केवल अच्छा ही नहीं और केवल बुरा भी नहीं, बल्कि दोनों का सम्मिश्रण है।

एक पिता अपनी पुत्री को पैतृक प्रेम के कारण चूमता है। वही अपनी पत्नी को दूसरे किसी मन्तव्य से चूमता है। यद्यपि चूमने का कार्य एक ही है, परन्तु वह कर्ता के मन्तव्य के अनुसार पृथक्-पृथक् परिणामवाला होता है। पहिला वास्तविक प्रेम का परिचायक है तथा दूसरा वासनाजन्य प्रेम का। इसलिए परिणाम में दोनों का भेद माना जाता है, यद्यपि कार्य एक ही रहा। एक ही कार्य जबकि बहुक्षेत्रों में, बहुमन्तव्यों से किया जाता है, तो उसके बहु फल भी माने जाते हैं। शिक्षा में, सामाजिक उन्नति में, धर्म और दर्शन में, राष्ट्रीय सेवा में—सर्वत्र ही यही वार्ता समझनी चाहिए। बिना किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के तथा बिना किसी फलाकांक्षा के किया गया कर्म मोक्ष के लिए उपयोगी होता है। सर्वदा यह ख्याल रखिए कि कर्म के लिए कर्म कीजिए न कि कर्म के फल के लिए। कर्म करने का अधिकार आपको है, उसके फल का प्रदाता कोई और है।

निष्कर्ष के रूप में हम यही समझें कि मानव-जीवन-वस्तुतः एक संघर्ष है। बिना कार्य और चेष्टा के यह जीवन निरर्थक सिद्ध

हो जाता है। कम से कम अपने शरीर के निर्वाह के लिए भी हमें कर्म करने पड़ेंगे और उसके लिए भी संघर्ष की आवश्यकता है। वह कर्म हम कह ही आये हैं कि शुभ और अशुभ का सम्मिश्रण होता आया है। हर एक कार्य शुभ और अशुभ दोनों फलों को लाता है। जो किसी कर्म के शुभ फल की कामना करता है, वह उसके अशुभ का भी भागी हुए बिना नहीं रह सकता। जब तक शरीर का संक्रमण है तब तक कर्मों की इतिश्री होगी नहीं और उसके अनुकूल फलों का भी ध्वंस तब तक नहीं होगा। उदाहरण के रूप में लीजिए—एक आम्र का बीज है। आम्र के वृक्ष रूपी कारण से उसके बीज रूपी कार्य की उत्पत्ति होती है। फिर बीज जब कारण बन जाता है तो उससे कार्य रूप में आम की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार आम्र का वृक्ष कारण बनता है और उसके साथ असंख्य परिमिति में यह चक्र घूमता ही रहता है। एक ही कारण का परिणाम अनेक कार्यों को जन्म देता ही रहता है। आम्र के वृक्ष और उसके बीज की तरह यह कर्म और कर्मफल—कार्य और कारण के रूप में चक्र की तरह घूमता ही रहता है। एक कारण अनेक कार्यों की उत्पत्ति करता है और वे अनेक कार्य पुनः कारण बनकर अनेक अन्य कार्यों की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार एक से अनेक और अनेक से अनेकानेक कार्य-कारण की उत्पत्ति होती रहती है और यही संसार-चक्र के नियमन में हेतु बने रहते हैं। फिर कर्म-फलों से कैसे मुक्ति पाई जाए? केवल अनासक्ति के द्वारा। पहिले ही यह लिखा जा चुका है कि 'मैं' और 'मेरा' का विचार ही बन्धन है। कर्मठ को 'मैं' और 'मेरा' का विचार छोड़ देना चाहिए। साथ ही उसके फलाफल की आशा भी छोड़ देनी चाहिए। कर्म के फल में उदासीन होना ही कर्म-कुशलता है। यही कर्मयोग है। जब आप कोई कर्म करते हैं तो किसी भी फल की आकांक्षा न कीजिए। बुरा और भला कुछ भी नहीं—सब ईश्वर के भरोसे ही छोड़कर स्वयं

निश्चिन्त हो जाइए। कर्म के लिए कर्म कीजिये, कर्म के फल के लिए नहीं। कर्म के कर देने पर आपका उत्तरदायित्व पूरा हो जाता है। उसके फल के लिए चिन्ता छोड़कर धीर और निश्चिन्त स्वभाव वाला बनिए। इस इरादे से किया गया कर्म आपके प्रति अच्छे फल का उपभोग लायेगा और आप उससे निर्लेप भी सदा रहेंगे। ईश्वर न्यायकारी बेशक है। यदि आपके अच्छे कर्म होंगे तो वह अन्याय न करते हुए पुरस्कार ही देगा। फल की आकांक्षा हमारे हृदय में चिन्ता की जननी होती है, और शान्ति को चुरा ले जाती है। चिन्तित व्यक्ति, बेचैन व्यक्ति, अहंकारी व्यक्ति—कभी भी शारीरिक अथवा मानसिक शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। ये दुःख और चिन्ताएँ तथा इनके फलाफल सब किसी न किसी प्रकार के रोग के उत्पादक होते हैं। धीरे-धीरे शारीरिक क्षति और मानसिक दुर्व्यवस्था के सहित मृत्यु के भी हेतु होते हैं। इसलिए उचित है कि हम सभी खतरों को स्थान से खाली ही कर दें। जो कुछ भी कार्य हमारे सम्मुख आता है, उसे ईश्वर प्रदत्त समझकर पूरी अवधानता और सच्चाई से करें—फिर जो उसका फलाफल होना चाहिए—इसका निर्णय भी ईश्वर के ही हाथ में छोड़ दें। कर्म-योगी को सदा प्रसन्न, ईमानदार और सत्यवादी होना चाहिए। उसे नियमित जीवन वाला होना चाहिए। उसे इधर-उधर की गप्पों से बचना चाहिए और समय की परवाह करनी चाहिए। कर्म-योगी को अपने वाणी, इन्द्रियों और आहार पर प्रचुर नियन्त्रण रखना चाहिए। उसे कर्म-योग में दक्ष होने के लिए समय की पहचान रखनी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त उसे काया, वचन और मन से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। सन्तान की उत्पत्ति के उपरान्त ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करना चाहिये। शारीरिक और मानसिक शक्ति के लिए ब्रह्मचर्य की अत्यधिक

आवश्यकता है। धार्मिक तत्वों के यथावत् अवगमन के लिए ब्रह्मचर्य की अशेष महिमा है। कर्म-योग के मार्ग पर निष्कंटक चलने के लिए ब्रह्मचर्य की निरन्तर आवश्यकता रहेगी। इसलिए कर्मयोगी ब्रह्मचर्य का पाठ अवश्य पढ़लें।

— ५ —

भक्ति-योग

ईश्वर साक्षात्कार का दूसरा मार्ग यही भक्ति-योग बताया जाता है। जिस व्यक्ति में भाव प्रधानता होती है, वह भक्ति को पसन्द करता है। भक्ति का अर्थ है प्रेम और योग अर्थात् मिलाना इसलिए भक्ति-योग का अर्थ हुआ प्रेम के द्वारा जीवात्मा का परमात्मा से संयोग। प्रेम और पूजा के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करना भक्ति-योग कहलाता है। और किसी प्रकार का प्रेम भक्ति-योग नहीं कहलाता है। एक युवक अपनी युवती पत्नी को प्यार करता है और वह युवती पत्नी अपने युवक पति को प्यार करती है परन्तु यह भक्ति-योग नहीं कहा जाता है। भाई और बहिन का परस्पर प्रेम, पुत्र और पुत्रिओं का माता-पिता में प्रेम—यह सब भक्ति-योग के अन्तर्गत नहीं है। पारिवारिक प्रेम, मैत्री का प्रेम, स्वामी और सेवक का प्रेम—यह सब भक्ति-योग नहीं है। एक सांसारिक व्यक्ति का इन्द्रिय-लोलुपता में प्रेम होता है, एक कृपण व्यक्ति का धन में प्रेम होता है—यह सब भक्ति-योग कदापि नहीं कहा जाता। क्योंकि इन सभी प्रेम के पीछे स्वार्थ है, वासना है, कामुकता है। ये सब प्रकार के प्रेम हमें मुक्ति प्रदान नहीं कर सकते। इसके विपरीत ये अज्ञान में मनुष्य को जकड़ देते हैं और उलझन में डाल देते हैं। भक्ति-योग का अर्थ होता है चित्त की एकाग्रता पूर्वक ईश्वर में एकाकी निष्ठा। विशुद्ध प्रेम

में घृणा नहीं होती है, भय नहीं होता है और व्यापारिक भावना भी नहीं रहती है। गलियों से होकर चलते समय जबकि एक कुत्ता भौंकता है तो महिला चौंक पड़ती है। इतना वह सुकुमार है। परन्तु उसकी सुकुमारता कभी चली भी जाती है। यदि एक भयंकर सांड़ उसके पुत्र का पीछा करे, तो वह महिला इतना देखकर ही धीर बनती हुई रक्षार्थ सांड़ का सामना करती हुई बालक को बचा लेती है। यहाँ पर बालक के प्रति माँ का विशुद्ध प्रेम ही है जो कि उसे निर्भीक बना देता है। यह विशुद्ध और निःस्वार्थ प्रेम ही है जो उसे बच्चे की रक्षा के लिए निर्भीक बना देता है जो उसे सांड़ के सम्मुख आने में निडर बना देता है, जो उसे जीवन के प्रति ममत्व को भी टाल देने में सहयोग देता है। भक्ति-योग के अनुसार एक व्यक्ति भगवान् को निर्भय रीति से प्रेम करता है। उसे अपने सबसे समीप और प्रिय समझता हुआ प्रेम रखता है। यहाँ तक कि प्रेम के बदले किसी प्रकार की वाञ्छा भी नहीं करता है। ऐसी निष्ठा और ऐसा निष्ठावाला अहंकार से रहित होता है और स्वार्थपूर्ण लेन-देन की भावना से भी रहित होता है। विशुद्ध प्रेम का दूसरा लक्षण यह भी है कि उसमें घृणा का लेश भी नहीं है। माँ अपने बच्चों को प्यार देती है। जबकि बच्चा शैतानी करता है, अथवा नटखट सिद्ध होता है, वह उससे घृणा नहीं करने लग जाती—प्यार ही करती रहती है। वह वासनापूर्ण रीति से ही बच्चे को प्यार देती है और तनिक डांटती-फटकारती भी जो है वह भी प्यार से ही करती है। सबके पीछे उसका यही ध्येय होता है कि बच्चा सन्मार्ग पर चले। इसलिये भक्ति-योग में व्यक्ति सदा ईश्वर को प्रेम ही करता है। वह कभी भी ईश्वर से घृणा नहीं करता। तीसरी वस्तु जो प्रेम में होती है, वह यह है कि प्रेमिक अपने से दूसरे को देना ही जानता है, कुछ लेना नहीं जानता। बदले में कुछ लेने की

भावना को छोड़कर भावुक भक्त ईश्वर को प्रेम ही करता जाता है। वह इतना भी नहीं सोचता कि वह जो प्रेम कर रहा है किस लिए, तथा किसके निमित्त है? वह केवल प्रेम देता है, प्रेम के ऊपर कभी विवेचन भी नहीं करता है। माँ का प्रेम पुत्रों के प्रति देखिये। वह अपने पुत्र की देख-रेख में न जाने कितनी आपदाएँ सहती है! कितनो असुविधाओं से गुजरती है। वह सारे दुखों का हँस-हँस कर धीरतापूर्वक सहन करती जाती है और सन्तति के लिए पवित्र वास्तविक प्रेम देती जाती है। इस प्रेम और सेवा के लिए वह अपनी सन्तति से कुछ चाहती भी नहीं है। इसलिए विशुद्ध प्रेम की परिभाषा यों समझनी चाहिए कि जिसमें प्रेमिक से कुछ लेने की आकांक्षा नहीं रहती। एक भक्त और एक भक्तियोगी अपने ईश्वर से बिना किसी फल की आकांक्षा से प्रेम करता है। वह मोक्ष के लिए भी आकांक्षा नहीं रखता। वह अपने प्रिय के साथ ही केवल रहना पसन्द करता है। वह अपने प्रिय से ही प्रेम करना चाहता है, उसकी ही भक्ति और उपासना करना चाहता है। वह अपने दुखों और द्वन्द्वों के लिए भी तनिक रोता चिल्लाता नहीं है। अपनी विपत्तियों की तनिक भी परवाह नहीं करता है। अपने दुर्भाग्य पर अपने को कोसता भी नहीं है। जो भी दुःख और क्लेश, हर्ष या अव-साद आता है, वह सब उसके प्रिय का सन्देश है—यही समझकर वह शान्त और प्रशान्त रहता है। इसलिए उसके लिए सब कुछ शोभन है। उसके लिए कुछ निर्वाचन नहीं है, कोई पसन्द की वस्तु नहीं है। वह सारी विपत्तियों को, सभी द्वन्द्वों को ईश्वर प्रेषित समझकर सहन कर लेता है। वह सफलता को पाकर प्रहर्षित नहीं होता तथा विफलता को पाकर खिन्न नहीं होता है। क्योंकि वह पूर्णरूप से ईश्वर पर निर्भर रहता है। उसकी प्रकृति एक सूखे पत्ते की तरह होती है। जबकि उत्तर से पवन का झकोरा

आता है तो दक्षिण की ओर खिंचकर चला जाता है। फिर जब दक्षिण से कोई पवन आता है तो वह पत्ता उत्तर की ओर चला जाता है। इसी प्रकार एक सच्चा भक्त कभी भी अपनी इच्छा का अनुकरण नहीं करता—सदा ईश्वर पर ही निर्भर रहता है। ईश्वरेच्छा ही उसकी इच्छा होती है। उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं होती।

एक सांसारिक व्यक्ति—सांसारिक भोगों के निमित्त व्यक्ति जिस प्रेम का आदान करता है, अर्थात् धन, जन, वित्त पुत्रादि के जिस प्रेम का प्रेमिक बना रहता है, उसी प्रेम को यदि ईश्वर के ऊपर और ईश्वर प्राप्ति के लिए दृढ़ता तथा धीरतापूर्वक मोड़ दिया जाय तो वह 'भक्तियोग' के नाम से कहलाएगा। ईश्वर की ओर चित्त की वृत्तियों का एकाकी मोड़ ही भक्तियोग कहलाता है। जबकि मानसिक प्रत्येक वृत्तियाँ ईश्वरमय हुई रहती हैं, और तनिक सा भी इसका विछोह अखरने लगता है, तभी उसे भक्तियोग कहते हैं। जबकि मधु या तैल एक पात्र से दूसरे पात्र में ऊँडेला जाता है, तो यह प्रवाह बनकर गिरता है। उसी प्रकार भक्त का मन जबकि भगवान्मय हुआ रहता है तब उस अवच्छिन्न प्रवाह को भक्तियोग कहते हैं। भक्तियोग ईश्वर के हेतु निरन्तर खोज को कहते हैं। जो सतत् प्रेमपूर्वक हुआ करता है। भक्तियोग में भक्त ईश्वर को विरह में दुःखित होता है और खिन्न होता है। वह नित्य निरन्तर ईश्वर में मिल-जुल जाने की बाट जोहता रहता है। केवल ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम तथा अन्य वस्तुओं के प्रति उपेक्षा भाव यही भक्ति योग कहलाता है। भक्ति आनन्द की अनवरत् अनुभूति है। यह आनन्द का प्रेमास्पद क्षण है। सांसारिक अधिकाधिक सुख तथा सर्वोच्च स्वर्गीय सुख भी भक्ति-भाव विभोरता के समक्ष तुच्छ प्रतीत होता है। यह नैसर्गिक आनन्द है और चिरन्तन सुख है। निर्विकल्प समाधि में जैसे

जाकर अपने को भूल जाया जाता है,ऐसी बात भक्तियोग में है नहीं बल्कि यह एक प्रकार से अपने व्यक्तित्व को पारकर किस दिव्य सत्ता से एकीकृत हो जाने के सदृश है। भक्तियोग में साधक का चित्त सत्य की उच्चतम शिखर पर समासीन होता है।एक तथा अनवच्छिन्न विचार धारा का सातत्य चलता रहता है। जबकि सभी इन्द्रियों के व्यवहार उसकी पूजा के रूप में ही हो जाते हैं तभी उसे भक्ति कहा जाता है। ईश्वर के प्रति अनवरत् प्रेम के प्रवाह को भक्ति कहते हैं। तब भक्त अपने उपास्य को नित्य ज्ञानेच्छापूर्ण मानता हुआ सकल कला का आधार मानता है। उनमें समग्र दैवी गुणों का दर्शन करता है, तथा उनके चरणों में निज चित्त को लगाए रखने की सीख को सीख लेता है। वियोग की तनिक बेला तपाने लगती है। किसी भी दुखमय अवस्था में भगवान् भुलाये नहीं जाते। ईश्वर के इस प्रकार के साहचर्य को भक्ति कहते हैं।

पराभक्ति की अवस्था में मन की सब वृत्तियाँ, चित्त, अहंकार, बुद्धि प्रभृति मिलकर सब एकीभूत होकर कार्य करते हैं। फिर क्या रहता है, केवल प्रेम और प्रेम ही तो! सांसारिकता और भोग-वासना से रहित प्रेम ही तो भक्ति कहलाती है। भक्ति की विकसित अवस्था को ही भाव कहते हैं। भाव जब विकसित होता है तो उसे महाभाव कहते हैं। इस अवस्था में जब एक बार भी भक्त भगवान् का नाम सुन लेता है तो उसके शरीर में रोमांच होता है, आँख से पानी गिरता है, शरीर कांपता है और भगवान् के दर्शन के लिए व्याकुल हो उठता है। इस भाव में भक्त का मानसिक और शारीरिक अवस्था ऐसा हो जाता है जैसे एक झोंपड़ी में हाथी के घुस जाने से उस झोंपड़ी की अवस्था होती है। भक्ति से भाव, भाव से महाभाव, महाभाव से प्रेम और प्रेम से ईश्वर साक्षात्कार की पहुँच होती है। क्रमशः एक की

परिपक्वास्था दूसरे की सीढ़ी पर लगा देती है। भक्तियोग जन्य प्रेम एकांगी, साधारणी, सामंजस्य के भेद से चतुर्विध होता है।

एकांगी प्रेम——एकमुखी प्रेम को एकांगी प्रेम कहते हैं। कृपण भले रुपये की सुरक्षा करता है, बत्तक भले पानी में आसक्त रहता है—परन्तु रुपया या पानी क्रमशः कृपण और बत्तक की परवाह नहीं करते। उसी प्रकार से भक्त अपने भगवान् से जो प्रेम करता है, वह किसी स्वार्थ की भावना से जन्य होता है और इसका कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलने से यह स्वार्थपरक प्रेम कहलाता है।

साधारणी प्रेम——यह साधारण प्रेम कहलाता है। यह भक्त स्वयं अपने आनन्द की खोज करता है। वह अपने प्रियतम के प्रेम की तरफ ख्याल नहीं करता है।

सामंजस्य प्रेम——यहाँ प्रेम का आदान-प्रदान होता है। प्रेमी की ओर से प्रेमिक को प्रेम मिलता है और प्रेमिक भी अपने प्रेमी को प्रेम का उपहार देता है। यह ऊँची श्रेणी का प्रेम है। भक्त अपने भगवान् की देख-रेख में तन-मन देता है और भगवान् भी भक्त की सब प्रकार से खबर लेते हैं, उसकी पूजाओं अर्चाओं और प्रार्थनाओं के उत्तर देते हैं। इसी समय भक्त भी अपनी सुरक्षा के रूप में उनकी शरण चाहता है।

समर्थ प्रेम——इस प्रेम में भक्त अपने प्रिय की ही मङ्गल कामना करता रहता है। वापसी में बिना कुछ आशा किए प्रीतम के लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है। समर्थ प्रेम का प्रेमी अपने प्रेमिक को प्रेम करता है, उसकी पूजा करता है, उसकी सेवा करता है और तन-मन-धन से उनके प्रति सब कुछ न्यौछावर करता है।

भक्ति और भी दो प्रकार है—वैधी और राग। ऊँच अथवा नीच भी जिसे कहते हैं। वैधी भक्ति निम्न कोटि की भक्ति है,

जबकि साधना के रूप में साधक ऊपर चढ़ने की चेष्टा करता है। परन्तु राग-भक्ति प्रेम को कहते हैं, वही विकसित भक्ति है। वैधी भक्ति शास्त्रीय नियमानुकूल आचार-विचारों में सीमित रहा करती है। एक व्यक्ति धीरे-धीरे क्रमिक रूप से इसमें अग्रसर होता है। इस भक्ति में सबसे पहले जो बात आती है वह है इष्ट-देवता का चुनाव। जिस देवी या देवता में अधिक श्रद्धा और प्रेम होता है उसे इष्ट देवता कहते हैं और उसी का नाम इष्ट-मंत्र कहलाता है। ईश्वर तो एक ही है। यह नाम और रूप से भी पृथक् है। परन्तु सब प्रकार के भक्तों की अभिरूचि के अनुसार भगवान् विविध रूपों में प्रकट होते हैं। एक ज्ञानी जिस ईश्वर को अव्यक्त रूप में ध्यान करता है, उसे एक भक्त नाम व रूप देकर पूजा करता है। दूसरी विधि से सहायता यही मिलती है कि मन की एकाग्रता में आसानी पड़ती है। प्रारम्भ में किसी मूर्त वस्तु पर मन अधिक काल पर्यन्त ठहर सकता है और भक्ति-योग में यही सुविधा विशेष श्लाघनीय है। भिन्न भिन्न भक्त ईश्वर को भिन्न भिन्न प्रकार से चाहते हैं। कोई तो ईश्वर को विरक्त शिव के रूप में उपासना करना पसन्द करते हैं और कोई तो कालीमाता के रूप में जिसे जगज्जननी की उपाधि दी जाती है। कोई उसे ही दुर्गा, सरस्वती और लक्ष्मी के रूप में पूजते हैं। कोई उसी ईश्वर को राम, कृष्ण, बुद्ध और मसीह के रूप में पूजते हैं। कोई सूर्य, वह्नि और वरुण के रूप में उसकी उपासना करते हैं। इतने नाम-रूपों में रहते हुए भी वह ईश्वर तो है एक ही। अपने-अपने इच्छानुसार अर्चित किया गया वह देव वास्तव में विभिन्न रूपों के होते हुए भी वही है। एक भक्त अपनी इच्छा के अनुकूल ईश्वर को किसी भी रूप में पूजे—परन्तु जिसकी आवश्यकता है वह तो श्रद्धा, प्रेम और निरन्तर निष्ठा से ही पूरी होती है।

एक सती और आदर्श नव-वधू अपने बड़े परिवार में रहती हुई सच्चे हृदय से अपने सास-ससुर की सेवा करती है, तथा अन्य परिवार वर्ग की सेवा करती है। एक-एक से लेकर सभी को एक समान प्यार करती है। वह सबों को पूर्ण हृदय से प्यार करती है। परन्तु उसकी आसक्ति, उसका प्रेम, और उसकी निष्ठा अधिकतम अपने प्रियतम के प्रति रहा करती है। उसके साथ कोई रहस्य नहीं रहता, कोई नियन्त्रण का प्रश्न नहीं रहता और पति के प्रेम में किसी प्रकार का दुराव नहीं रहता। उसके दुःख और सुख, उसके हर्ष और अमर्ष—संक्षिप्त में यही कि जो कुछ भी हो—सभी कुछ वह अपने प्रियतम के लिए हार जाती है। ऐसी ही स्थिति होती है एक सच्चे भक्त की। भगवान् का एक सच्चा भक्त, अथवा जो आध्यात्मिक मार्ग पर बहुत दूर तक अग्रसर हो चुका है, वह किसी भी पन्थ और सम्प्रदाय में अन्तर नहीं मानेगा। वह राम, कृष्ण, दुर्गा और काली—सभी में भी उसी एक ईश्वर को देखेगा—वह गिरजा घरों में यीसू-मसीह की और मस्जिदों में अल्लाह की पुकार भी करेगा—बुद्ध के मन्दिर में वह भगवान् बुद्ध की शरण भी लेगा। महावीर के मन्दिरों में वह महावीर की तथा पारसी के मन्दिरों में अग्नि की पूजा को श्रेष्ठ मानेगा। फिर भी जिस इष्टदेव का उसने निर्वाचन किया है, उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति रखेगा। एक श्रेष्ठ कोटि का भक्त सबमें अपने प्रभु को ही अनुगत देखेगा, सबमें वह अपने प्रभु से ही संपर्कता स्थापित करता जायेगा, सबों में वह अपने प्रभु की ही स्तुति समझेगा। सर्वत्र वह अपने ही इष्टदेव की पूजा समझेगा। जहाँ कहीं वह अपने प्रभु का संदर्शन करता हुआ उनसे क्षमा, कृपा, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की याचना करेगा। सबों से वह अपने चरित्र-बल और अपने आदर्श पर पहुँचने के लिए मनोबल की ही याचना

करेगा। दुःख और आपदाओं की घड़ियों में, क्लेश और शोक की दुरवस्था में वह सदा सर्वदा अपने ही प्रभु को रक्षार्थ पुकारेगा। वह ईश्वरेच्छा में ही निवास करता हुआ सर्वत्र ईश्वरेच्छा से अभिभूत ही जगत् को देखेगा। अपने पतन और ध्वंस की स्वल्प भी परवाह न करेगा। अपनी सफलता और प्रगति पर वह न फूलेगा न खिन्न होगा। वह अपनी निधि का प्रत्येक भाग ईश्वर को प्रदान करेगा। आत्म-समर्पण करके भाव से विश्वासपूर्वक चलेगा।

भक्तियोग में एक साधक गुरु की आवश्यकता रखता है। गुरु वही है जिसने ईश्वर-प्राप्ति कर ली है, अथवा जिसने निर्विकल्प समाधि की अवस्था प्राप्त की है। वह गुरु तथोक्त साधक और साध्य ईश्वर के प्रति मध्यस्थ होता है। क्या ईश्वर की प्राप्ति के लिए गुरु की नितान्त आवश्यकता है? नहीं, कोई वैसे भी जन्मजात सन्त हैं, अर्थात् वे बचपन से ही आध्यात्मिक जगत् में जागरूक हैं, ये मानव धरती पर सत्वगुण की प्रधानता लेकर आया करते हैं। ऐसे लोगों के लिए गुरु की आवश्यकता नहीं रहती है। ये महानुभाव अपने पवित्र जीवन के बर्ताव से तथा आन्तरिक विकास के कारण अपने इष्ट देवता का सहज ही चुनाव कर लेते हैं और शिघ्र ही लक्ष्य पर पहुँच लेते हैं। संख्या में ये महात्मावृन्द थोड़े हैं,ऐसे सन्तसमूह बिना किसी के सहयोग के ही जीवन का मार्ग तय कर लेते है। परन्तु निम्न-कोटिवालों को गुरु की आवश्यकता रहती है। आध्यात्मिक मार्ग बहुत ही लम्बा, बहुत ही कठिन, सूक्ष्म और खतरनाक है। इस मार्ग से साधारण कोटि के साधकों को चलना बड़ा ही दुष्कर हो जाता है। ऐसे साधक के लिए गुरु की सहायता सबसे जरूरी है। गुरु का यही कर्तव्य रहता है कि वे शिष्य को सुरक्षित रीति से आध्यात्मिक बीहड़ पथ से पार लगा दें। शिष्य की मानसिक एवं आध्या-

त्मिक दशा का उत्तरदायित्व गुरु पर ही रहता है। वह शिष्य का सब भार अपने ऊपर ले लेता है और उसे सन्मार्ग से ले चलने का प्रण भी कर लेता है। जब कोई साधक क्लेश की अनुभूति करता है तथा थकित सा मालूम पड़ता है, अथवा मार्ग में उसे कदाचित् अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है—ऐसी अवस्था में गुरु उसकी सहायता करता है। उसकी थकान को मिटाता हुआ, उसकी समग्र अश्रद्धाओं और शंकाओं का मूलोच्छेदन करता हुआ वह उसे उच्च मार्ग से ले जाता है। शिष्य की जैसी योग्यता और रुचि होती है, उसके अनुकूल इष्टदेव का निर्वाचन और तदनुकूल मन्त्र-दीक्षा देने का कार्य गुरु के उत्तरदायित्व में ही रहता है। शिष्य बनाने के पहिले गुरु तथोक्त साधक की परीक्षा लेता है और योग्य जानकर ही शिष्य के रूप में वरण करता है। वह साधक भी अपने गुरु में योग्य गुरु के सब गुणों का निरीक्षण कर लेता है तभी दीक्षा लेता है। वैसे अचानक ही गुरु और शिष्य का सम्बन्ध कर लेने से पीछे उसका सम्बन्ध टूट जाता है। इसलिये गुरु और शिष्य का सम्बन्ध स्थापित करने के पहिले दोनों को पास-पास रह कर कुछ काल तक एक दूसरे का निरीक्षण करना चाहिए। और दोनों जब परस्पर सन्तुष्ट हों तभी गुरु शिष्य का सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। जब एक बार सम्बन्ध स्थापित हो चुका फिर छोड़-छाड़ करना ठीक नहीं है। फिर शिष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह गुरु की आज्ञा का अनुपालन करे तथा उन्हें श्रद्धा और पूजा की दृष्टि से देखे। गुरु साक्षात् ईश्वर की भाँति ही शिष्यों द्वारा पूज्य होना चाहिए। और शिष्य के प्रति भी गुरु का वैसा ही कर्तव्य है कि वह उसे पुत्र की तरह प्यार करे, देख-रेख करे।

गुरु शिष्य के लिये इष्टदेवता और इष्टमन्त्र का चुनाव करता है। यह मन्त्र दीक्षा शिष्य को गुरु के द्वारा दी जाती है कोई भी नाम मन्त्र नहीं बनता। हर एक मन्त्र एक विशेष विधि और रूप में आचारित होता है। यदि यह मन्त्र उचित रीति से परिपालित होता है तो बन्धन और क्लेशों का निवर्तक होता है,परन्तु यदि यही कुत्सित रीति से परिपालित होता है, तो साधक के जीवन को नष्ट कर देने पर ही तुल जाता है। मन्त्र की शक्ति देवता की ही शक्ति है। देवता और देवता के नाम में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म और उसकी शक्ति गति और शब्द से रहित है। नाद मन्त्र का आदि है। नाद की विकसित अवस्था को बिन्दु कहते हैं, बिन्दु से बीज तक प्रगति होती है। यह बीजाक्षर ही किसी देवता या देवी का विशिष्ट नाम है, अर्थात् मन्त्र द्रष्टा ऋषि द्वारा श्रुत यह प्रथमाक्षर है। एक सिद्ध मन्त्र कई अक्षरों से सम्मिलित होता है। तो हम जान आये हैं कि मन्त्र की उत्पत्ति नाद से होती है जो ब्रह्म की क्रिया-शक्ति है। इसे ही ब्रह्म की महती शक्ति और उच्च नाद भी कहते हैं। नाद पहिली अनुभूति गति है जो समग्र चेतना में शब्द की उत्पति पर्यन्त चेष्टाशील रहती है। यही शब्दब्रह्म है। जिसकी अनुकम्पा से हम अपने विचारों को दूसरों के प्रति व्यक्त करते हैं तथा दूसरों के भी विचारों का अनुग्रहण करते हैं। मन तो किसी रूप, रंग और आकृति के बिना है। यह जिस विषय का चिन्तन करता है, उसी के रूप में साकार हो उठता है। ईश्वर के नाम, रूप और गुणों का बारम्बार चिन्तन करने वाला मन तद्रूप ही हो जाता है। इस प्रकार उसमें एकाग्रता भी आती है और स्थैर्य भी प्रबल होता है। उसी एक विचार में नित्य निरन्तर निवास करने से अनन्त शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। उसी मन्त्र और इष्टदेव के सदैव चिन्तन से मन तदाकार इष्टदेवता का

स्वरूप ही हो जाता है और इष्ट के सभी गुण और वैभव उसमें आ जाते हैं। जबकि मन्त्र का अनुष्ठान नित्य निरतिशय विधि से किया जाता है तो इसमें शारीरिक शुद्धि तथा नाड़ी और मन की शुद्धि भी हो जाती है और ईश्वर साक्षात्कार के लिए प्रभूत और सामर्थ्य भी अपने अन्दर भर जाती है।

विभिन्न-देवी-देवताओं के मन्त्र-विशेष धर्म ग्रन्थों से पाये जा सकते हैं। यदि ऐसा ही है तो फिर ग्रन्थों में ही देख लिया जाय, किसी गुरु की क्या आवश्यकता है ? हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं कि मन्त्रों का ग्रहण ग्रन्थों द्वारा ही हो सकता है। लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि केवल मन्त्र को लेकर दुहराने मात्र से कुछ लाभ संभव नहीं है। यदि उसके रहस्य को ठीक समझाने वाला कोई नहीं हो तो वे लाभप्रद के अपेक्षा घोर अनर्थकारी सिद्ध होते हैं। मन्त्र-दीक्षा देते समय गुरु अपने शिष्य में अभूत-पूर्व एक आध्यात्मिक शक्ति का सन्निवेश करता है। ऐसा समझिये कि गुरु आपको एक नया जीवन दे रहा है, एक नवीन शरीर प्रदान कर रहा है। दीक्षा के बाद यह शक्ति आपको आध्यात्मिकता के उच्चतर शिखर पर ले जाने में योग देती है। गुरु को शिष्य के सब पाप सहन करने पड़ते हैं। इसलिए गुरु यदि निर्विकल्प समाधि या सविकल्प समाधि नहीं प्राप्त किया हो तो शिष्य के किये गये पापों का समूह नारकीय यातना में ढकेल देता है। इसके विपरीत एक सच्चा गुरु, जिसमें अनन्त आध्यात्मिक शक्तियाँ होती हैं, वह उनके द्वारा शिष्य के समग्र पापों को भस्म कर लेता है और स्वयं किसी खतरे में गिरता नहीं। ऐसा ही गुरु शिष्य को दीक्षा देने में कुशल है। ऐसे दक्ष गुरुओं द्वारा ली गई दीक्षा हमारे जीवन में प्रचुर शक्ति का सन्निवेश करती है और हमारी आध्यात्मिक प्रगति से बेशक सहायक होती है। तो ध्यान में रखने

योग्य बात यही रही कि गुरु ईश्वर-साक्षात्कार कृत हो और अनुभवी हो। तभी उससे दीक्षा लेनी चाहिए।

जैसा कि हम पहले कह आये हैं, चिरन्तन सत्य एक ही है, और वही अद्वितीय है। यह सर्वव्यापक है और परिपूर्ण है। पूर्णत्व में रूप और रंग नहीं है, आदि और अन्त नहीं है। वह असीम सत्ता मनुष्य के चरम-चक्षुओं द्वारा द्रष्टव्य नहीं है। यह हमारे तुच्छ मन द्वारा अनुभव गम्य नहीं है। थोड़ा कुछ अनुभव का आभास-मात्र समाधि में प्रतीत होता है। जिस महापुरुष ने निर्वाण की प्राप्ति कर ली है, वही इस पद को अर्थात् पूर्णत्व की परिभाषा को ठीक-ठीक समझ सकता है। यह नाम और रूपों से भिन्न सत्ता उसके द्वारा ही अनुभव-गम्य है। निर्वाण की इस अवस्था के अतिरिक्त नाम और रूपों की अभिव्यक्ति साथ-साथ हुआ करती है। वे सब अभिन्न हैं। जहाँ नाम है, वहाँ रूप भी अवश्य रहेगा। स्थूल यदि नहीं तो सूक्ष्म रूप भी अवश्य रहेगा। किसी भी वस्तु का परिचय तबतक नहीं हो सकता जबतक कि उसके उच्चारण के साथ उसका चित्र हमारे मस्तिष्क में नहीं बन जाता हो। मन के द्वारा इस प्रकार का चित्रण सर्वदा हुआ करता है। इसके बन जाने पर ही विचार बुद्धिगत होकर सार्थक होता है। एक नवीन साधक में तत्त्व को बुद्धिगत करने की क्षमता उतनी नहीं, इसलिए उसे किसी प्रकार के देवी-देवता व उनके चित्रों की सहायता लेनी पड़ती है। और इन सहायताओं के लिये गुरु की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है।

चित्र यद्यपि मिट्टी का होता है अथवा कागज़ पर खचित होता है, परन्तु भक्त के लिए वह मिट्टी और कागज के रूप में नहीं है—वह तो साक्षात् परमेश्वर स्वरूप ही प्रतीत होता है। वह उन चित्रों और पत्थरों में अपने ईश्वर का वास्तविक स्वरूप देखता है। इस प्रकार के साक्षात्कार के कारण ही वह उन चित्रों पत्थरों

को पूजता और आराध्य समझता है। उसके सामने रोता भी है और अपनी फरियाद भी करता है। पहिले पहल मूर्ति या चित्र को एक सुन्दर कमरे में रखकर पूजा करता है। उस कमरे का वातावरण पूत, पवित्र और सात्विक रखता है। उसमें प्रवेश करने के पहिले स्नानादि की पवित्रता जरूरी होती है। भक्त उनके आस-पास अगरबत्तियाँ और पुष्पित पुष्पों को रखता है, तथा उनके सम्मुख होकर बैठता और स्तुति करता है।

अपनी आध्यात्मिक उन्नति एवं आत्मिक शांति के लिए एक भक्त जिन विधियों से ईश्वर की अर्चना करता है, उन्हें षोडशोपचार की संज्ञा दी जाती है। भक्त पहले अपने इष्ट देवता का आवाहन करता है। उन्हें बुलाकर फिर बैठाता है, इसे आसन कहते हैं। फिर उसके बाद वह उनका सत्कार करता है, इसे स्वागत कहते हैं। तीसरी विधि उन्हें जल देने की होती है, जिससे प्रभु पैर धोते तथा शुद्धि प्राप्त करते हैं। फिर चौथी और पाँचवीं विधि के रूप में भगवान् को अर्घ्य प्रदान कराया जाता है। छठी बार आचमन के लिए जल दिया जाता है जिससे देवता मुख प्रक्षालन करते हैं। फिर मधु, घृत, दुग्ध और दधि का मिश्रित मधुपर्क नामक द्रव्य सातवीं विधि में भोग के रूप में दिया जाता है। इसके बाद स्नान के लिए जल दिया जाता है। यह आठवीं विधि है। नवीं विधि में वस्त्र अर्पण किया जाता है। दशवीं विधि में भूषण भेंट किये जाते हैं। यह आभरण की भेंट विधि है। ग्यारहवीं विधि चन्दन-प्रदान की होती है। यह गन्ध दान कहलाता है। फिर पुष्प और माला रूपी बारहवीं भेंट दी जाती है। तेरहवीं क्रिया अगरबत्ती जलाने की होती है। चौदहवीं बार भक्त भगवान् की आरती अर्चना करता है। फिर उनके प्रति नैवेद्य के रूप में पके हुये भोजन मिष्टान्न और फलों की भेंट चढ़ाता है। यह पन्द्रहवीं प्रक्रिया है। इसके बाद हाथ धोने के लिए जल दिया जाता है। भगवान् को इस

प्रकार खिला-पिलाकर भक्त क्षमा प्रार्थना माँगता है और इधर भगवान् को विश्राम कराता है और भक्त भी अपने कार्य में फिर लग जाता है। यह अन्तिम नमस्क्रिया वन्दना कहलाती है। इस सम्पूर्ण कार्यविधि का रहस्य यही है कि भक्त अपनी प्रतिमा में भगवान् का यथावत् साक्षात्कार करता है। ऐसी कल्पनाएँ निस्सन्देह ही भक्त को भगवान् के पास पहुँचाने में सहायिका होती हैं। आरम्भिक अवस्था में ये प्रचुर सहायता करती हैं। धीरे-धीरे जबकि साधक आध्यात्मिक उन्नति करता है,तब फिर इन चीजों की आवश्यकता नहीं रह जाती है। फिर किसी फोटो या प्रतिमा की सहायता वांछित नहीं होती। ये ही कल्पनायें तब वास्तविक बन जाती हैं। आगे सचमुच में साधना-पथ पर चलने से इनका सम्यक् विवेचन कर सकेंगे।

उपरोक्त प्रकार की साधना निम्नतम कोटि की साधना है। अर्थात् मूर्ति-पूजा एवं तीर्थ-यात्रा ये साधनायें कनिष्ट अधिकारियों के लिए है। इससे उच्चतर साधना है नित्य एक आसन पर बैठकर मन्त्र-जप करना। जो इतने स्थिर चित्त के नहीं हैं कि ठीक से बैठ सकें वे जहाँ कहीं तीर्थ-यात्रा करते रहते हैं। यह भी चित्त शुद्धि की एक साधना है। वे ही मूर्ति-पूजा और आराधना में अभ्यस्त रहते हैं। मन्त्र के जप की अपेक्षा भी ध्यान श्रेष्ठ है। सबसे उत्तम साधना है समाधि की प्राप्ति। समाधि में इच्छानुकूल जाना और वहाँ से स्वेच्छानुसार आना—यही समाधि साधना में तत्परता मानी जाती है। साधारणतः साधक मन्त्र जप के बाद इष्टदेव की पूजा करता है। वह गुरु की आज्ञानुसार मन्त्र का हजारों बार जप करता हुआ रह सकता है। यह क्रिया माला के द्वारा एकाग्र चित्त से सम्पन्न होती है। मन्त्र का उच्चारण तीन रीति से किया जाता है–वाचिक,उपांशु और मानस। वाचिक–यह जोर-जोर से मन्त्र के उच्चारण को कहते हैं और आस-पास के लोगों

को भी सुनाई पड़ती है। एक नवीन कोटि का साधक इस प्रकार सरलता से कर सकता है और परिणामतः उसका मन भी कुछ अधिक पर्यटन से रुका रह सकता है। उसी नाम का शान्तिपूर्वक उच्चारण उससे बनता नहीं क्योंकि मन के यत्र-तत्र बिखर जाने से उससे समेटा जाना असम्भव मालूम होता है—इसलिए जोर-जोर से बोलते जाने में उसे कुछ आसानी पड़ती है। दूसरी विधि जो शान्तिपूर्वक की जाती है,उसमें साधक के अधर हिलते हुये प्रतीत तो होते हैं, पर उच्चारण किसी अन्य के द्वारा सुना नहीं जाता। तीसरी विधि बिल्कुल मन में जप करने की विधि है और कोई भी इसको सुन नहीं पाता है, और न समझ ही पाता कि वह क्या कर रहा है। इसे मानसिक जप कहते हैं। ऐसा साधक कहीं गुम-सुम बैठा रह सकता है,अथवा सड़क पर चलता रह सकता है, फिर भी इसका मन इष्टमन्त्र के चिन्तन में लगा रह सकता है।

मन्त्रोच्चारण की वाचिक विधि तामसिक कही जाती है, उपांशु-विधि राजसिक तथा मानस-विधि सात्त्विक कही जाती है। पहिली दोनों विधियाँ उतनी अच्छी नहीं, क्योंकि उनमें खतरे भी हैं। जबकि साधक जोर-जोर से मन्त्र का उच्चारण करता है, तब पास-पड़ोस के लोग तमाम सुना करते हैं और यों वे उसकी प्रशंसा के पुल बाँधना शुरू कर देते हैं। सब उसको भगवान् का अनन्य भक्त कहकर पुकारने लग जाते हैं, जबकि वह बेचारा समान्य कोटि का साधक ही रहता है। इस प्रकार की तमाम प्रशंसाओं को सुनकर वह स्वभाविक ही गर्व से फूल उठता है और अपने को कुछ मूल्य देने लगता है। गर्व के उमंग में वह साधना की वास्त-विकता की ओर न देखता हुआ केवल आडम्बर वाली साधना को शुरू कर देता है, और दूसरों को दिखाने मात्र के लिए ही उसकी साधना रहती है। ऐसे ढोंग के ढङ्ग रचने वाले भारतवर्ष में कई हैं। दूसरे मूर्ख व्यक्तियों के परिहास और निन्दा के

कारण उदास होकर अपने साधन से हतोत्साह हो जाता है। यदि मानसिक जप किया जाता हो तो सबसे समीप वाले व्यक्ति को भी यह पता नहीं चलेगा कि वह क्या कर रहा है। पति की साधना पत्नी नहीं जान सकती तथा पत्नी की साधना पति नहीं जान सकता है। इस प्रकार वे दोनों साधक रहते हुये भी परस्पर छिपे रहते हैं। यह बात भी सच है कि साधना गोपनीय रहनी चाहिए और प्रगति भी तभी श्लाघनीय होती है। इसका अभ्यास जो कर चुके हैं वे ही इसे सरलता पूर्वक कर सकते हैं और ऐसा करते हुये उन्हें भी आनन्द आता है। वे समाज में इसकी दिखावट को दिखाना पसन्द नहीं करते हैं। और उनके जप की विधि सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है।

मन्त्र के जप का उद्देश्य यही है कि चित्त की एकाग्रता को प्रदान कराता हुआ यह ईश्वर के साक्षात्कार पर्यन्त मार्ग प्रशस्त कर देता है। जैसा हम पहिले कह आये हैं कि मन का अपना रूप और अपना कोई रङ्ग नहीं है। वह जिसकी चिन्तना करता है, उसी के रङ्ग और रूप को लेता है। मन साधन अवस्था में शुद्ध होता रहता है। उसकी उपमा श्वेत और स्वच्छ वस्त्र से अथवा श्वेत स्फटिक से दी जा सकती है। श्वेत और स्वच्छ वस्त्र के ऊपर जो भी रंग चढ़ाया जाय, वह उसको चढ़ा लेता है। उसमें वह रंग घुलमिल जाता है। स्फटिक के सामने जैसे भी रंग की वस्तु आप रख दीजिये, वह उसी तरह देखने में आता है। ऐसे ही साधक साधन अवस्था में बुरी और कुत्सित संगति में रहता है, वह शीघ्र ही चरित्रहीन हो जाता है। इसके विपरीत यदि वह सुसंगति और आध्यात्मिक पुस्तकों के सम्पर्क में रहता है तो सच्चरित्र और सत्पुरुष हो जाता है। इसी प्रकार नित्य-नियमित रूप से ईश्वर चिन्तन करते रहने से साधक के मन में प्रभूत बल उत्पन्न हो हो जाता है और वह शक्ति, शुद्धि तथा सामर्थ्य को प्राप्त करता

है। एक साधारण मन चंचल रहता है। अशुद्ध मन का यह काम ही है कि किसी वस्तु की इच्छा व अनिच्छा करना, और विशेषकर इन्द्रिय-लभ्य भोगों की ओर जाना। एक वस्तु पर टिक कर रहना उससे असम्भव है। बहु विषयों वाले विचार उसे जहाँ-तहाँ खींचकर ले जाते हैं। जिस प्रकार छोटी बड़ी लहरें सागर को अशान्त करती रहती हैं उसी प्रकार भिन्न-भिन्न इच्छायें मन को अशान्त करती रहती हैं और हम लोग यही तो चाहते हैं कि हमारी मानसिक स्थिति एकमुख हो और चित्त की समग्र वृत्तियाँ एकाग्र होकर सूत्रित हों। सब विचारों का पुञ्ज मिल-कर एक में परिणित हो। कहने का अभिप्राय यह है कि साधारण व्यक्ति का मन किसी न किसी वस्तु पर विचार किए बिना रह नहीं सकता। जहाँ कहीं भी विचार की लहर है, वहाँ उनका रूप भी अवश्य है। इस लिए विचारों के बाहुल्य से बचने के लिए हमें एक विचार को पकड़ना चाहिए, चित्त की सभी वृत्तियों को एक मुखी कर लेना चाहिए, एक ही कामना और एक ही रूप की अवधारणा करनी चाहिए। जबकि साधक इस विषय में सफलता प्राप्त कर लेता है, यों उसकी मानसिक प्रगति एक ही विचार-क्षेत्र में हुआ करती है। विचार की एकीकृत अवस्था शान्तिप्रद अव-स्था होती है और अनेक विचारों की उच्छृङ्खलता दूर होकर एकता के आ जाने के कारण शान्ति रहती है। धीरे-धीरे मन की वह अवस्था भी अतिक्रान्त करके हम दूर शून्य में पहुँचने के योग्य हो जाते हैं।

इष्टदेव की पूजा और मन्त्र-जप के अतिरिक्त एक भक्त अच्छे साधु-सन्यासियों की सहायता लेता है। साधु-सन्तों के संग निवास करने से अपने गुरु तथाविध और उपकारी महात्माओं की शुश्रूषा करने से साधक में अलौकिक शक्ति का सन्निवेश हुआ करता है, जिसके द्वारा साधक शीघ्रता से आध्यात्मिक प्रगति के लिए जाग-रूक होता है। सत्संग और सद्भाषण के द्वारा अचानक ही

साधक उठकर अतिमानस के स्तर पर पहुँच जाता है। स्वाभाविक ही उसकी प्रगति होने लगती है। भक्त अपने प्रभु के गुणगान में चित्त देता है। जहाँ भागवत की महिमा सुनाई पड़ती है वहाँ श्रवण के लिए जिज्ञासु भक्त जाता है। समय की जहाँ बचत रहती है, उस समय भक्त अपने भगवान् की गुण-गरिमा सम्बन्धी कार्यों में भाग लेता है। वह महापुरुषों, सन्तों के जीवन चरित्र, गीता, रामायण और भागवत् आदि के अध्ययन में भी प्रचुर समय देगा। इन अध्ययनों के द्वारा उसकी आध्यात्मिक चेतना जागती है। सन्तों और यशस्वी महापुरुषों की जीवनी पढ़ने से उसकी बुद्धि निर्मल होती है और वे ईश्वर-संप्राप्ति के हेतु संघर्ष करने में कितना कष्ट उठाये और किस प्रकार उन आपत्तियों से अपना संरक्षण किये इन सब विषयों को जान जाता है। इसे जानकर अपने साधन सम्बन्धी कठिनाइयों और उनसे निकलने के उपायों से वह परिचित हो जाता है।

जिस मन्तव्य और उद्देश्य से एक साधक अपने साध्य देवता की अर्चना करता है, उससे भिन्न उद्देश्य और मन्तव्य हुआ करता है। अन्य साधकों तथा जिज्ञासुओं की। यह व्यक्तिगत आध्यात्मिक प्रगति पर निर्भर करता है। यह आवश्यक नहीं है कि साधक को ईश्वर साक्षात्कार करने के लिये नीचे लिखे हुए पाँचों भावों की अभिलब्धि करनी ही पड़ेगी। उसमें से किसी एक भाव के संवरण द्वारा साधक मुक्ति-पथ पर चल सकता है, ईश्वर साक्षात्-कार कर सकता है। व्यक्ति में वैसे पाँचों भाव होते हैं, परन्तु उन में कोई एक प्रधान होता है उसी प्रधान भाव को लेकर भक्त अपने भगवान् के समीप पहुँच सकता है। यदि कोई उच्च कोटि का साधक हो तो वह विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के भाव स्वयं अनुभव कर सकता है। भाव कुल ये ही हैं—शान्तभाव, दास्यभाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव, और मधुरभाव।

(१) **शान्त-भावः**—यह भाव भक्ति-योग की प्रथम अवस्था है। व्यक्ति ने ईश्वर साक्षात्कार नहीं किया है, परन्तु उस ओर उसकी लालसा अधिक है। उसने ग्रन्थों का मनन किया है। उसने गुरु की सन्निधि ली है। उसने मन्त्र-दीक्षा ली है और योग्य शिक्षाओं को भी प्राप्त किया है। उसने गुरु के उपदेशों द्वारा तथा शास्त्र के अध्ययन द्वारा यह निश्चय किया है कि ईश्वर नाम की कोई चीज है और वह संसार की वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सत्य है। मनुष्य इसीलिए दुःखी रहता है क्योंकि वह ईश्वर को भूल गया है। ऐहिक और आमुष्कि आनन्द का माध्यम केवल ईश्वर ही है और वही ईश्वर संसार का एकच्छत्र शासक है। एक नई ज्योति का साधक सोचता है कि ईश्वर सर्वत्र होते हुए भी स्वर्गधाम में रहता है। शान्त-भाव का भावुक भक्त ईश्वर को संसार का सम्राट् मानता है। परन्तु वह ईश्वर और अपने अस्तित्व के बीच में भेद की एक रेखा खींच देता है। वह अपने को तुच्छ जीव समझता है और सर्वतोभावेन ईश्वर पर आश्रित समझता है। वह ईश्वर की दया का वशंवद है, इसलिए उसके भय से भयभीत रहता है। ईश्वर की स्वामी भाव से पूजा करता है। वह ईश्वर से मैत्री सम्बन्ध नहीं रखता है। ईश्वर के प्रति उसकी भक्ति अपरिपक्व होती है। वह ईश्वर को वस्तु रूप से समझने की चेष्टा करता है।

(२) **दास्य-भावः**—(दासता की अभिरुचि) बहुत से लोग ईश्वर को अपना स्वामी समझते हैं और अपने को उनके नौकर के रूप में मानते हुए गौरव समझते हैं। इस भाव में साधक अपने को ईश्वर के अधिक समीप ले जाता है। वह अपने को ईश्वर का गुलाम समझता है। वह ईश्वर को अपना मालिक समझता है और अपने को उनका आज्ञाकारी सेवक। वह ईश्वर को सदा अपने दृष्टिकोण में रखते हुए मन और इन्द्रियों द्वारा सारा व्यापार उन्हीं के लिए करता है। वह ईश्वर के लिए ही खाता है, उनके

लिए ही पीता है, उनके लिए ही सोता है और सब कुछ करता है। यहाँ तक कि उसके हृदय की प्रत्येक धड़कन भी ईश्वर के निमित्त है। जैसे कि एक आज्ञाकारी सेवक अपने स्वामी के वैभव, परिवार, पुत्रादि की सुरक्षा करता है, साथ ही किसी प्रतिशोध की कामना नहीं रखता। वैसे ही सच्चे हृदय का साधक अपने पुत्र परिवार को अपना न समझता हुआ ईश्वर प्रदत्त समझता है। फिर भी चाकर की भाँति उनमें अनासक्ति रखता हुआ सेवा करता है। वह जो कुछ भी करता है सबको ईश्वर के लिए ही कृत समझता है। वह प्रत्येक कार्य को आसक्ति के बिना करता है तथा उनके परिणामों को शुभ समझकर ही ग्रहण कर लेता है। क्योंकि वह जानता है कि जो भी कार्य किये जाते हैं, सब ईश्वर के लिए ही हैं और पाप तथा पुण्य उसके नज़दीक कुछ नहीं। ईश्वर ने जैसा कराया, वैसा कर देना मात्र हमारा धर्म है। उसमें आसक्ति अथवा फल की आकांक्षा, यह नहीं होनी चाहिए।

रामायण में हम हनुमान जी के अन्तर्गत इस भाव का अद्भुत प्राचुर्य देखते हैं। श्री हनुमान ने भगवान् राम की दास भाव से ही यावज्जीवन सेवा की। उन्हें श्री राम में अटूट श्रद्धा थी और उनके वचनों पर अशेष विश्वास था। उनकी सेवा में श्री हनुमान जी ने अपने शरीर तक की सुधि भुला दी थी। अपने शारीरिक सुखों की तिलांजलि दे दी थी। अपने जीवन-मरण का सब प्रश्न उन पर ही सौंप दिया था। अटूट श्रद्धा के साथ उन्होंने आश्चर्यजनक कार्य किए। वे लङ्का तक कूद कर चले गये और कूद कर ही लङ्का से भारत वापस आगये। भगवान् राम भी यह काम सरलता से नहीं कर पाये। उन्हें सागर तरने के लिए पुल बनाने की आवश्यकता पड़ी। केवल श्रद्धा के कारण क्या से क्या सम्भव हो जाते हैं, यह सचमुच जानना कठिन है।

(३) **सख्य-भाव**:—(मित्रता की अभिरुचि) तीसरी विधि से जैसे ईश्वर प्राप्ति की जाती है, वह सख्य-भाव है। इसे स्पष्टतया मित्रता की अभिरुचि के रूप में समझना चाहिए। इसके द्वारा भक्त अपने भगवान् के और भी समीप पहुँच जाता है। वह सब प्रकार की भय और भेद की भावनाओं को भूलकर ईश्वर में ही सब कुछ न्यौछावर कर देता है। वह ईश्वर से न तो कुछ चाहता ही है और न तो कुछ माँगता ही है। वह ईश्वर को अपने सहृदय मित्र की तरह देखता है, और उसकी शुभ सन्निधि की निरन्तर कामना करता है। वह ईश्वर से किसी और वस्तु की कामना नहीं करता, केवल उनकी मैत्री चाहता है, केवल उनकी संगति चाहता है। यहाँ, इस भाव में भक्त अपने भगवान् से अनन्य प्रेम करता है और उनकी सन्निधि के बिना एक क्षण भी रहना पसन्द नहीं करता। वह हमेशा ईश्वर चिन्तन करता है और उनके विचारों से एक क्षण भी अपने मस्तिष्क को खाली नहीं होने देता। इस भाव को प्रत्यक्ष रूप में हम अर्जुन और कृष्ण के बीच देखते हैं—तथा वृन्दावन की गोप में देखते हैं। अर्जुन ने श्री कृष्ण को मित्र के रूप में ही पहिचाना। गोप—ये भी श्री कृष्ण को भाई के रूप में जानते थे, साथी की भाँति समझते थे। वे साथ ही क्रीड़ा करते थे तथा एक दूसरे से किसी प्रकार की स्वार्थसाधना के मन्तव्य को नहीं रखते थे।

(४) **वात्सल्य-भाव**:—(पुत्र की भाँति अभिरुचि) भाव की यह चौथी विधि है, जिसे वात्सल्य-भाव कहते हैं। इसमें भक्त अपने भगवान् को पुत्र रूप में देखता है। इस भाव में भक्त पुरुष अथवा नारी के लिए भगवान् पुत्र के रूप में प्रकट होते हैं। देवकी और जसोदा भगवान् श्री कृष्ण को पुत्र के रूप में ही देखती थीं। उन्होंने श्री कृष्ण से कुछ भी नहीं चाहा। माता तो श्री कृष्ण को कभी-कभी दण्ड भी देती थी, जब वे नटखट करते

थे। दोनों माताओं ने श्री कृष्ण को पुत्र के रूप में प्यार किया और उनकी सब कामनायें भी पूर्ण की। इसी प्रकार वात्सल्य रस के रसिक भक्त अपने भगवान् से कुछ भी नहीं चाहते हैं। वे भगवान् को पुत्र के रूप में वरण कर लेते हैं और उनकी यथा संभव देख-रेख भी करते हैं। माता-पिता जैसे अपने पुत्र को प्यार करते हैं वैसे ही भगवान् के प्रति प्यार देने की उनकी इच्छा हो जाती है। ऐसे दिव्य सन्तति को पाकर वे धन्य-धन्य होते हैं। माता अपने पुत्र के प्रति प्यार देती हुई यही चाहती है कि उसका पुत्र सानन्द रहे। वह अपने बच्चे से वापसी में कुछ लेती नहीं और चाहती भी नहीं। बल्कि प्यार देना ही उसकी इतिकर्तव्यता होती है। इसके विपरीत वह बच्चे के लिए सर्वस्व अर्पण कर देती है। इस वात्सल्य भाव में भी भक्त माता व पिता अपने भगवान् पुत्र की प्रचुर देख-रेख करते हैं और उनका उद्देश्य ही रहता है कि पुत्र को सुखी रक्खें। अपने दिव्य सन्तान को सुखी व प्रसन्न रखने के लिए वे सब कुछ न्यौछावर करते हैं और जीवन तक भेंट कर देने को तैयार हो जाते हैं। वात्सल्य भाव की यही महिमा है।

(५) मधुर-भावः—(प्रीति पूर्ण अभिरुचि) मधुर-भाव का भक्त अपने भगवान् को प्रेमी के रूप में देखता है। जैसे एक पतिव्रता नारी अपने पति को हृदय से प्यार करती है और जैसे कि किसी कार्य में संकोच नहीं करती है,वैसे ही भक्त हृदया महिला अपने प्रियतम के सदृश्य भगवान् को प्यार देती है और कुछ अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखती है। उसका उद्देश्य यही होता है कि भगवान् उस पर प्रसन्न रहें। वह अपनी सुख-सुविधा के लिए तरसती नहीं है। किन्तु अपने प्रियतम की सुख-सुविधा में ही अपने को सुखी मानती है। पुरुषों में मधुर भाव पाया जाता है। वह पुरुष अपने को नारी के रूप में देखता है। उसके अनुसार संसार में एक ही पुरुष है, और वह ईश्वर ही है। वह संसार में

किसी अन्य पुरुष की सत्ता को नहीं मानता और लीला नायक भगवान् के साथ पति की भाँति बर्ताव करता है। बहुत से पुरुष जो मधुरभाव युक्त होते हैं, अपने ऊपर बहुतेरे गहने भी पहन लेते हैं और महिला की तरह साड़ी इत्यादि पहनकर रहते हैं। इस भाव में भावुक व्यक्ति भगवान् के समीप आ जाते हैं। भगवान् को अपने पति के रूप में देखता हुआ उनकी पूजा-वन्दना करता है। उनकी सब प्रकार से सेवा-शुश्रूषा करता है। अपनी आत्मा और अपने मन के सब किरणों से उनकी अर्चना करता है। वापसी के रूप में कुछ चाहता नहीं है। यहाँ भक्त का उद्देश्य यही है कि ईश्वर की सेवा करनी चाहिए। उन्हें प्रसन्न करना चाहिए। क्योंकि वे ही सबके पति हैं। भक्त का मन उन पर ही पूरे तौर से आसक्त रहता है। बहुत से नई सभ्यता वाले लोगों को यह भाव अरुचिकर प्रतीत होता है। बहुत से लोग समझने लगते हैं कि यह भाव पुरुष–नारी की तरह एक प्रकार का बुरा सम्बन्ध है। बहुतेरे लोग इस भाव के रहस्य को ठीक-ठीक नहीं समझने के कारण इस प्रकार हँस पड़ते हैं। पहिली अवस्था में इस भाव का होना सम्भव नहीं है। अगर चंचल चित्त वाला कोई व्यक्ति इस भाव को अपनाता है, तो वह पतन की ओर ही जायेगा। ऐसा साधक अपनी साधना को सम्यक् प्रकार से नहीं कर सकता है। उच्च कोटि के साधक ही इस भाव को ठीक सम्भालकर ऊपर जा सकते हैं। इस भाव को जो साधक ग्रहण करता है उसे सबसे पहले पवित्र होना चाहिए। फिर मन में किसी प्रकार का विषय-राग नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त मन और इन्द्रियों पर उसका प्रचुर प्रभुत्व होना चाहिए। ऐसा ही व्यक्ति इस भाव का आदान कर कुशलता से चल सकता है। इस भाव में स्वभावतः ही मनुष्य अपने शरीर को भूल जाता है। जबकि इस भाव को ग्रहण कर साधक इसका अभ्यास करने लगता है, फिर वह प्रेमा-

भक्ति को भी प्राप्त कर लेता है। प्रेमाभक्ति के समागम से मन की म्लानता, काम, वासनायें सब दूर हो जाती हैं और साधक दिव्य साक्षात्कार के पास पहुँच चुकता है। इस भाव के आ जाने से साधक भगवान् से शीघ्र मिलने में सफल हो जाता है। वह ईश्वरीय विचारों में सदा निमग्न रहने के लिए लालायित रहता है। ईश्वर के नाम और यश को सुनकर साधक का चित्त आह्लाद से भर जाता है, उसे रोमांच सा होने लगता है और आँखों में आँसू उतराने लगते हैं। यह भाव की विभोरावस्था है, जो मधुर-भाव भावित भक्त को ईश्वर प्राप्ति प्राप्त होता है। ऐसा व्यक्ति संसार और सांसारिकता से मरे हुये की तरह हो जाता है। अभिप्राय यह कि वह कहीं किसी पदार्थ से अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करता। इस भाव के उदाहरण स्वरूप हम राधा और वृन्दावन वासिनी अन्य गोपियों को ले सकते हैं। अपने श्री कृष्ण के बावले प्रेम में वे तन-मन की सुध भूल जाती थीं। अपने पति, पुत्र और परिवार की विस्मृति कर वे कृष्ण के पीछे दौड़ पड़ती थीं। वे सब कृष्ण के पीछे पागल थीं। कृष्ण के बिना उनका जीवन निस्सार था। संसार की प्रत्येक वस्तुओं से अधिक प्रेम उनका श्री कृष्ण के प्रति था।

इन पाँच भावों के अतिरिक्त कोई-कोई ईश्वर को जगत के कर्ता पिता के रूप में पूजता है और कोई उन्हें माता के रूप में भी। वीर भाव के तन्त्र साधक जगत् की माता को पत्नी के रूप में पूजते हैं। और भी कई लोग ईश्वर को स्रष्टा, स्थितिकर्ता और संहर्ता समझकर पूजते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी भाव से हम ईश्वर के पास पहुँच सकते हैं, किसी भी रूप में उनकी उपासना करते हुये उस चिरन्तन सत्य परमात्मा की प्राप्ति कर सकते हैं। परन्तु जो हमारे लिए अपेक्षित है, वह है दृढ़ भक्ति और श्रद्धा।

भावुकता—प्रधान चरित्र वाले व्यक्ति भगवान् को नव प्रकार से भजते हैं। ये विधियाँ नवधा भक्ति के नाम से विश्रुत हैं। (१) ईश्वर के गुणानुवाद का श्रवण करना (२) उनकी स्तुति करना (३) उन पर ही मनन करना (४) पादसेवन करना (५) उनकी अर्चना करना (६) उनके समीप विनीत होना (७) उनका सेवक होना (८) अपने हृदय से उनको प्यार करना तथा (९) आत्म-निवेदन करना।

जो हमारे शास्त्र साधकों के लिए चार प्रकार के योग बतला गये हैं इन चारों में से साधारण स्त्री और पुरुषों के लिए भक्ति-योग सरल है। इसमें भय और खतरे उतने नहीं हैं। यह मार्ग सबके द्वारा परिग्राह्य है। शास्त्र के अनुसार स्त्री और शूद्र को वेद के अध्ययन में अधिकार नहीं है। परन्तु कुछ ऐसे वेद मन्त्र भी हैं जिनका गवेषण स्त्रियों और शूद्र-सन्तों ने ही किया है। वेद में जैसे लिखा है, ठीक वैसे ही पढ़ लेना ठीक नहीं, किन्तु उसके लक्ष्यार्थ की ओर जाना चाहिए। वेदों को पढ़कर समझ लेने में साधारणतः स्त्री और शूद्रगण ही अशक्य नहीं हैं। किन्तु अधि-कांश जन-समुदाय भी इसका अर्थ ठीक-ठीक नहीं लगा पाते। मूर्खों के द्वारा वेद का पठन व्यर्थ है। इससे व्यर्थ के अपवाद झेलते हैं और अर्थ का अनर्थ होता जाता है। साधारण पुरुष व स्त्रियों द्वारा वेद के वाक्य समझ में आने योग्य नहीं हैं। उनके लिए वेद के वाक्य वैसे ही निरर्थक हैं जैसे किसी बालक के आगे हीरों का समूह उड़ेल दिया हो। यह तो हीरों का मूल्य जानता नहीं, और इन्हें व्यर्थ इधर उधर छिटका कर छोड़ देगा। इसलिए वेद के अध्ययन में सामान्य जनता की मनाही दी जाती है। इनके लिए भक्ति मार्ग सरल है और कोई भी जाति, वर्ण, व्यव-स्था और सम्प्रदाय वाला व्यक्ति इसका अनुकरण कर सकता है।

परिपूर्णतया आत्म-समर्पण ही भक्तियोग के मार्ग में सहायक है। एक भक्त अपने भगवान् के निमित्त सब कुछ अर्पण कर देता है। वह अपने पूज्य भगवान् के लिए सब कुछ न्यौछावर करने में हिचकता नहीं है। वह अपना शरीर, अपना मन, अपनी सम्पत्ति और शक्ति—सब कुछ भगवान् का ही समझता है और उनको भगवान् के प्रति भेंट कर देता है। वह पूर्ण रूप से ईश्वर की कृपा पर ही निर्भर रहता है। उसका अपना कोई उत्तर-दायित्व नहीं है, अपना कोई निर्वाचन नहीं है, अपनी कोई साधना नहीं है। उसे कोई वेदना नहीं है, कोई कष्ट नहीं है और न कोई भय ही है। वह अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का संचालन नहीं करता। वह ईश्वर पर अवलंबित होता हुआ कार्य करता है। वह पतित पत्र की तरह समाज में आचरण करता है। एक सूखे हुए पत्ते की अपनी कोई हस्ती नहीं होती है। जबकि उत्तर से पवन आया वह खिंचकर दक्षिण को चला जाता है और कभी दक्षिण से पवन आया तो वह खिंचकर उत्तर को चला जाता है। इसी प्रकार के आचरण का सादृश्य पाया जाता है उन भक्त हृदयों में जिन्होंने अपनी सब कुछ भेंट ईश्वर के प्रति कर दी है। एक सच्चा भक्त बिना किसी हर्ष और शोक के ईश्वर के सहारे अव-लंबित रहता है। वह ईश्वर के हाथ द्वारा ही सब कुछ होता हुआ अनुभव करता है। वह ईश्वर के भरोसे ही अपनी सफलता-विफलता को छोड़ देता है। अपने सुख और दुखों को ईश्वर के भरोसे ही छोड़ देता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"हे अर्जुन, यह मेरी माया, जो तीन गुणों से मिलकर बनी है, तरने के लिए कठिन है। जिन्होंने अपना सब कुछ मेरे प्रति भेंट कर दिया है, वे ही इसको पार कर सकते हैं। चार प्रकार के पुण्य-वादी मेरी पूजा करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।

उनमें ज्ञानी जो मेरा अनन्य चिन्तन करता है वह सबसे श्रेष्ठ है। उसके लिये मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मेरे लिये अत्यन्त प्रिय है। जिस-जिस भाव से भक्त मेरी उपासना करता है, उसी भाव से मैं प्राप्त होता हूँ। वह जिस-जिस रूप में श्रद्धापूर्ण मेरी अर्चना करता है, उसको उसी रूप में मैं प्राप्त होता हूँ। वासनाओं और कामनाओं से जो द्वन्द्वों की उत्पत्ति देखी जाती है, हे भारत! उनके द्वारा ही जन्म से लोग पतन को प्राप्त होते हैं। परन्तु वे पुण्यात्मा लोग जिनका पाप नष्ट हो चुका है, द्वन्द्वों से पार होकर दृढ़ता पूर्वक मेरी अर्चना करते हैं। जो एकाग्र चित्त होकर पूर्ण श्रद्धा के सहित नित्य निरतिशय मेरा स्मरण करते हैं, उनके लिए मैं सहज ही लभ्य हूँ। पूर्णत्व को एक बार प्राप्त कर लेने पर तथा दुरुह तत्व को जानकर योगी फिर से पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त करता है। वह दुःखालय और अशाश्वत संसार को वह फिर भजता नहीं। हे पार्थ, वह श्रेष्ठ पुरुष (ब्रह्म) अनन्य भक्ति द्वारा प्राप्य है। जिसके द्वारा समस्त संसार व्याप्य है और जो संसार को व्याप्य रहा है, वह मैं ही हूँ। मुझसे ही सबकी उत्पत्ति होती है और मुझमें ही सबका विलय होता है। इस प्रकार सोचता हुआ ज्ञानी मुझमें विराम पाता है। मेरी पूजा करता है। मुझमें मन को रखता हुआ, मुझमें ही इन्द्रियों को उपरमित करता हुआ यह योगी परमानन्द को प्राप्त करता है। मुझमें प्रकाशित हुआ और मुझमें ही संभाषित हुआ वह योगी परमसुख का लाभ करता है। वह परम आह्लाद को प्राप्त करता है। मुझमें एक निष्ठ हुये तथा मुझमें सेवा रत हुए लोग मेरे द्वारा सद्बुद्धि को पाकर मुझे ही अन्त में प्राप्त करते हैं। उनके प्रति सकरुण हुआ मैं उनके हृदयस्थ अगाध अविद्या रूपी अन्धकार को ज्ञान के प्रकाश द्वारा दूर कर देता हूँ। अपने मन को मुझमें ही लगाओ, अपनी बुद्धि को भी मुझमें ही उपसंहार करो। इस प्रकार तुम निस्सन्देह ही मुझमें ही सदा निवास करोगे। जो किसी प्राणी से

घृणा नहीं करता है और सबके प्रति दया और मित्रता का भाव रखता है, जो अहंता और ममता के विचार से रिक्त है, दुःख और सुख में सदा समबुद्धि है, सहनशील, सन्तुष्ट एवं ध्यान परायण है, आत्मनियन्त्रित एवं दृढ़ विश्वास वाला है, मुझमें ही अपने चित्त और बुद्धि को लगा चुका है—वह मेरे प्रति यों झुका हुआ, मुझे सबसे प्रिय है। जिसे संसार के उद्वेग से भय नहीं और जो अपने उद्वेग से संसार को भयभीत नहीं करता, हर्ष और द्वेष, भय और चिन्ता से मुक्त है, वह मेरा ही प्रिय है। जो किसी पर निर्भर नहीं रहना चाहता, जो शुद्ध, सच्चा, अनासक्त, दुःखहीन, सब कर्मों का परित्यागी तथा मेरे प्रति आकृष्ट है, वह मुझे ही प्रिय है। जो न आनन्द करता और न घृणा ही करता है, दुःख भी तथा इच्छा भी नहीं करता है—इस प्रकार का जो भक्तिमान् है, वह मेरा ही प्रिय है। वे शान्त प्रकृति वाले ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। वे कदापि शोक नहीं करते। वे इच्छा भी नहीं करते। सब के प्रति समान भाव का बर्ताव करते हैं, वे मुझे ही प्रिय हैं। वास्तविक रूप से ये मुझे भक्ति द्वारा जानते हैं। मैं कौन हूँ और क्या हूँ—इस प्रकार जानकर तथा शरणापत्ति लेकर मेरी ही कृपा द्वारा वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वही सनातन पद है। वही चिरन्तन पद है।

— ६ —

ज्ञान-योग

ज्ञान का अर्थ है बोध। यह दो प्रकार का है। परा और अपरा इसके भेद हैं। सांसारिक वस्तुओं के अवबोधन कराने वाला ज्ञान अपराज्ञान है तथा उस चरम सत्यता एवं वस्तु विज्ञान का बोधक ज्ञान पराज्ञान कहलाता है। इसके अन्तर्गत तीन भेद होते हैं। ज्ञान, ज्ञानी और विज्ञानी। इसे ठीक-ठीक समझने के लिए एक उदाहरण लीजिये—एक व्यक्ति ने दूध को देखा नहीं है, परन्तु उसने दूध नाम की चीज को सुना है और यह भी सुना है कि वह सफेद रंग का तरल, पोषक एवं सुपाच्य होता है। इस प्रकार का बोध होना ज्ञान कहलाता है। एक साधक गुरुमुख एवं पुस्तकों के द्वारा यह जानता है कि चिरन्तन सत्ता नाम की कोई वस्तु है। परन्तु उसे ईश्वर-तत्व के विषय में ऐसा कोई ज्ञान नहीं। इस प्रकार के अपूर्ण बोध को ज्ञान कहते हैं। दूसरी स्थिति में व्यक्ति दुग्ध को देखता है, इसकी श्वेतता तथा तरलता की भी परख करता है और तनिक स्वाद भी लेता है यह अवस्था ज्ञानी की अवस्था है। ज्ञानी वही है जिसने सत्यत्व के प्रति गवेषणा शुरू कर दी है, तनिक स्वाद भी वही ले चुका है और अनन्त की वान्छा से और अधिक के लिए सचेष्ट भी है। परन्तु अभी तक समाधि प्राप्ति नहीं की है और भ्रान्ति से निकल कर अनन्त में लीन नहीं हुआ है। तीसरी अवस्था में मनुष्य दूध को देखता है, उसका स्पर्श करता है और

कई बार इच्छानुसार जी भर कर पीता रहता है। यह अवस्था विज्ञानी की अवस्था है। एक विज्ञानी वही है जो बन्धन और आसक्ति की भ्रांति से निकलकर निर्विकल्प समाधि प्राप्ति कर चुका है। विचार द्वारा ईश्वर प्राप्ति करना ज्ञान-योग कहलाता है। विवेक और वैराग्य द्वारा मृत्यु, जरा, व्याधि, सुख, दुःख इत्यादि से पार होकर मुक्ति प्राप्त करना ज्ञानपथ कहलाता है। विवेक द्वारा अनित्य वस्तु को त्यागकर शाश्वत वस्तु को ग्रहण कर मोक्ष प्राप्ति करना ज्ञानयोग कहलाता है। इसे ही नेति मार्ग कहते हैं। नेति का अर्थ है 'यह नहीं'—इसमें अनात्म वस्तुओं के निराकरण द्वारा आत्मा की प्रतिष्ठा तक पहुँचा जाता है।

ब्रह्म अनन्त, अनादि, सनातन, असीम, अपरिवर्तनशील, अविनाशशील, सर्वव्यापक, सदामुक्त तथा अद्वितीय है। इसमें, जन्म, अभिवृद्धि, पीड़ा, मृत्यु, लिंगभेद, वर्णभेद व जातिभेद इत्यादि नहीं है। यह रूप, रङ्ग और मन से रहित है। इसमें गुण नहीं है और यह काल, दिशा तथा कारणत्व से पृथक् है। अग्नि इसे जला नहीं सकती, पवन इसे सुखा नहीं सकता, सूर्य इसे तपा नहीं सकता एवं खड़ग् इसे काट नहीं सकता। यह प्रकाशों का प्रकाश है, जीवितों का जीवन है, सभी देवी-देवताओं का ईश्वर है, प्रभुओं का प्रभु है, शक्तियों की शक्ति है तथा बुद्धियों की बुद्धि है। सारा संसार ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। यह उसकी ही कृपा है कि सूर्य चमक रहा है, तारे दीप्ति दे रहे हैं, चन्द्रिका छिटक रही है, अग्नि प्रज्वलित हो रही है, हवा सुखा रही है, जल आर्द्र कर रहा है, वर्षा भिगा रही है। ब्रह्म सभी प्राणियों का अन्तर्नियामक है। यह किसी परिच्छेद के बिना सबको व्याप्त किये है। यही शक्ति सबमें रहती हुई आत्मा अथवा परमात्मा के नाम से विश्रत है। ब्रह्म सभी विषयों का विषय है। इस प्रकार ब्रह्म अज्ञेय है। यह सभी विषयों का विषय है, इसे कैसे जाना जाय? किसी वस्तु को

जानने का अर्थ तो यह है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—इस प्रकार तीन होना चाहिए। परन्तु यहाँ तो ज्ञाता ही ज्ञेय और ज्ञान भी है। इस दृष्टि से ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता। ज्ञान दृष्टि द्वारा ब्रह्म तुमसे अधिक समीप है। अधिक ज्ञात है। क्योंकि यह तो तुम्हारा स्वरूप ही है। तुम्हारी आत्मा ही है। अपनी सत्ता को जानने के लिए तुम्हें किसी प्रमाण की क्या आवश्यकता है।

यह संसार कुछ और नहीं केवल अपने संकल्प का रूप है। जो व्यक्ति जैसा सोचता है, वह वैसा ही हो जाता है। कोई भी वैसी वस्तु नहीं है जिसमें ब्रह्म अनुस्यूत नहीं हो, जो ब्रह्म का व्याप्य नहीं हो। सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म में बसा हुआ है। यह नाम और रूप का सर्जन है। नाम और रूप को विश्व में से निकाल दीजिए—फिर जो शेष रहता है, वह ब्रह्म ही केवल है। स्वर्ण की बनी हुई चीजें—कंकड़, जंजीर, हार, अंगूठी, प्रभृति सभी को लीजिये—और सब को गला दीजिये तो शेष फिर क्या रहेगा? सोना ही सोना रहेगा। वैसे ही ब्रह्माण्ड में से नाम और रूपों को निकाल दीजिये, जो रहता है वह एकाकी ब्रह्म ही है। एक अबोध व्यक्ति ब्रह्म को छोड़कर नाम और रूपों को ही पकड़ लेता है। वास्तविक ब्रह्म की सत्ता को भूल जाता है, जो विश्व में सभी नाम और रूपों का कारण है। एक अबोध साधक सागर की लहरियों पर दृष्टिपात करता है और उसे सचमुच सागर से पृथक् समझ लेता है। वह जानता नहीं कि लहरियों की सत्ता सागर से अन्य नहीं है। वास्तविक वस्तु तो सागर ही है, उसमें लहरें जो हैं वे नश्वर और असत्य हैं। यदि सागर नहीं होता तो लहरें भी नहीं होतीं।

साधारण मनुष्य नित्य प्रति तीन अवस्थाओं की अनुभूति करता है—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् अवस्था में यह नामरूपात्मक जगत् सत्य प्रतीत होता है। वह प्रत्येक सुख

और दुख के साथ हँसता और रोता है और अपने मन तथा इन्द्रियों के द्वारा सभी वस्तुओं की अनुभूतिकरता है। वही व्यक्ति स्वप्न की अवस्था में जाग्रत् वाली सभी वस्तुओं को—अर्थात् पुत्र, परिवार, सम्पत्ति सब कुछ को भूल जाता है और उनसे सम्बन्ध भी हटा लेता है। फिर स्वप्न जगत् में उसका परिचय किसी और ही दुनियाँ से होने लगता है। जैसे यह जाग्रत् जगत् जागृत-व्यक्ति के लिए सत्य प्रतीत होता है, वैसे ही स्वप्न वाला जगत् भी स्वप्नशील व्यक्ति के लिए सत्य प्रतीत होता है। स्वप्नशील व्यक्ति कभी भी स्वप्न के पदार्थों को झूठा नहीं समझता। जबतक कि स्वप्नशील व्यक्ति स्वप्न की अवस्था में है, तब तक वह स्वप्न के जगत् को एवं वहाँ भी सब वस्तुओं को सत्य ही समझता है। वह सुख और दुःख दोनों से प्रभावित होता है। वही व्यक्ति जबकि सुषुप्ति के जगत् में प्रवेश करता है, तब स्वप्न और जाग्रत् दोनों जगत् को भूल जाता है। तब वह व्यक्ति संसार के देश, काल और परिच्छेद से अतीत हो चुकता है। सुषुप्ति काल में मन आत्मा में लीन रहता है। परन्तु अविद्या के प्रभुत्व के कारण जबकि व्यक्ति सचेत हो चुकता है तो उसे यह पता नहीं रहता कि आत्मा के साथ मन निमग्न था और उस निमग्नता से वापस आया है। और चौथी—तुरीया नाम की अवस्था है, विरला ही कोई महापुरुष इस अवस्था को पाता है। एक व्यक्ति जबकि निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करता है तो सारी अविद्या और भ्रान्तियाँ उससे दूर हो चुकती हैं। इस अवस्था में जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों काल की चेतनायें दूर हो चुकती हैं और वह दूसरी दुनियाँ में रहता है। निर्विकल्प समाधि की अवस्था में देश, काल और व्यवस्था से दूर जा पहुँचता है तथा सत्व, रज और तम से भी अतीत हो चुकता है। इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय–तीनों भावों का लय हो चुकता है और वह बन्धन, मुक्ति और

ज्ञान की भावना से सुदूर हो चुकता है। इस अवस्था में किसी दूसरे की प्रतीति नहीं होती है। तब वस्तु अपने में अर्थात् चेतना निज चैतन्य में ही लीन हो जाती है—ऐसी अवस्था यदि होती हो तो बन्धन किसके लिए रहा ? मुक्ति किसके लिए रही ? बन्धन और मुक्ति का प्रश्न उसके लिए उठता ही नहीं जो समाधिस्थ है।

नाम रूपात्मक जगत्, देश, काल और व्यवस्था में निवास करता है। देश काल और व्यवस्था ये तीनों मन में निवास करते हैं। सारा संसार मन के कारण ही स्थित रहता है। मन का आत्मा के अतिरिक्त कोई और अधिष्ठान नहीं है। वह आत्मा का एक यन्त्र है। उसका प्रकाश और चेतना आत्मा से ही मिलता है। यह किसी वस्तु की अनुभूति पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा करता है। यह मन ही है जो इन्द्रियों के सारे कार्य को करवाया करता है। मन से रहित होकर इन्द्रियाँ कदापि काम नहीं कर सकती। जाग्रत् अवस्था में मन को इन्द्रियाँ नाना विषयों में घसीट ले जाती हैं। इस तरह इन्द्रियों की क्रियाओं द्वारा मन की शक्तिहीन हो जाती है इस कारण से वह आत्मा को ग्रहण करने में चूक जाता है। यदि तालाब का जल चंचल नहीं है तो उसके पास खड़े होकर तुम अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हो तथा आसपास किनारे की चीजों को भी देख सकते हो। परन्तु यदि प्रवाह चंचल हो तो कुछ देखने में नहीं आता, वैसे ही मन की वृत्तियाँ यदि शान्त नहीं हों तो व्यक्ति आत्मा को ग्रहण नहीं कर सकता। समाधि अवस्था में मन की वृत्तियाँ शान्त होती हैं आत्मा साक्षात्कार करती है।

एक भृङ्ग मकान के अन्दर किसी छिद्र द्वारा घुस जाता है और घुसने के उपरांत छिद्र को भूल जाता है। फिर जब वापस जाने की इच्छा होती है तो इधर से उधर दिवार में ही टक्कर मारता फिरता है। ऐसा नहीं कि छिद्र के पास चला जावे। वह

दीवार में धक्का मार-मार कर हैरान-परेशान हो जाता है तथा उसे थकान आ जाती है। प्रकाश को देखकर वह खिड़की में अपनी नाक मार देता है और शीशे की चोट खाकर फिर उसे वापस आना पड़ता है। बार बार इस प्रकार करते हुए वह परेशानी से भयभीत हो उठता है, घायल और अस्त व्यस्त हो उठता है। जिस द्वार से वह आया था, वह तो अब भी खुला है, पर उसको मालूम नहीं होता कि वह कहाँ है। इधर से उधर गल्ती रास्ते की ओर धक्का मारता हुआ परेशानी में पड़कर व्याकुल घूमता है। इस प्रकार कई रीति से वह बाहर निकलने की चेष्टा करता है, पर निकल नहीं पाता। वह कौन सा कारण है कि जिससे भृङ्ग ने द्वार की विस्मृति करली। यद्यपि उसी से वह आया था। इस भ्रांति का क्या कारण है? भृङ्ग को भ्रांति कैसे होती है? इस 'क्यों' का कोई उत्तर नहीं है। यह भ्रांति मन में होती है और माया की प्रबलता के कारण होती है। वह आत्मा तो नित्य और मुक्त ही है,परन्तु मन और इन्द्रियों के पसारे हुए भोगों में भृङ्ग की तरह भ्रमित होता है। इसी प्रकार मनुष्य अपने समीचीन स्वभाव को भूल कर बैठ जाता है। वह अपने को नश्वर देह, प्राण, बुद्धि इत्यादि में मिला लेता है। वह उस राह को भूल जाता है जिसके द्वारा अन्दर आया था। स्वच्छन्दता एवं मुक्तता के मार्ग को भूल कर वह बन्धन और कारागार की राह को अपनाता है। यद्यपि वह मुक्ति चाहता है परन्तु अज्ञानता के कारण वह सोचता है कि सांसारिक भोगों में ही मिलेगी और इस प्रकार मुक्ति की अभिलाषा के बदले वह संसार में लीन हो जाता है। इन्द्रियों के भोगों में वह जितनी रति करता है उतनी ही प्रकृति की ओर से उसे धक्के, मुक्के और दुर्घर्ष आघात मिलते हैं। वह व्यग्र और चिन्तित होकर भ्रांति को गले लगाता है। वैसे ही एक भृंग की तरह वह रास्ते

को भूलकर व्यर्थ की आशाओं पर मुग्ध हुआ विफलता को अपना लक्ष्य बनाता है।

एक महानुभाव बगीचे में इधर-उधर छिटकती चाँदनी का मजा लेते हुए घूमते हैं। कहीं एक रस्सी पड़ी दीख जाती है और वे उसे साँप समझकर व्याकुल हो पड़ते हैं। झट नौकर को लाठी तथा लालटेन हाथ में लेकर साँप को मारने के लिए बुलाते हैं। जब वह नौकर लालटेन और लाठी लेकर घटनास्थल पर जाता है तब यह पता लगता है कि जिसको साँप समझता था, वह तो मामूली रस्सी थी। उसी क्षण साँप का विचार ही मस्तिष्क से चला जाता है। अब यह सोचिए कि रस्सी के स्थान पर साँप की प्रतीति कैसे हो गई? यह भ्रांति कैसे उदित हुई? इसमें हेतु क्या है? वास्तव में इसके दो ही कारण हैं। एक तो वे महानुभाव तथा दूसरी उनकी भ्रांति।

एक गर्भिणी सिंहनी बकरे पर कूदती है। वह बकरा भाग निकलता है। सिंहनी एक शेर के बच्चे को जन्म देती है और स्वयं मर जाती है। कोई गड़ेरिया उस सिंहनी-बच्चे को माता के बिना देखता है और उसे दया आ जाती है। वह उसे बकरियों और भेड़ियों के दूध पर ही पालकर अपने भेड़ों और मेमनों के संग ही रखता है, यों उसकी अवस्था भी बढ़ जाती है। शेर का शिशु भी गड़ेरियों के संग रहने लगता है। एक मेमने की भाँति घास को चरता फिरता है तथा मेमने की तरह मिमियाता फिरता है। गर्जन को तो भूल जाता है। कुछ समय के उपरांत वह शेर का बच्चा एक भयंकर शेर हो जाता है। परन्तु अपनी वास्तविकता को तो भूल ही चुका है। वह सबल सिंह अपनी सबलता की जगह दुर्बलता की ओट में बँधता फिरता है। जब-जब कुत्ते की तनिक भौंक पर भेड़ों के जूथ उखड़ खड़े होते हैं, उसके साथ वह सिंह भी भाग उठता है। एक दिन एक विक-

राल सिंह कदाचित् शिकार की खोज में जंगल से भेड़-बकरियों के झुण्ड में आता है। वह देखकर आश्चर्य करता है कि उससे भी बढ़कर मजबूत एक सिंह भेड़ियों के साथ रहता हुआ घास चरता और भयभीत रहा करता है। वह जंगली सिंह इस पर बहुत आश्चर्यपूर्वक खेद करके अपने को एक झाड़ी के अन्दर छिपा लेता है। इसी ताक में कि उस भूले सिंह को धोखे से पकड़ लें। इसे देखकर जंगली सिंह उस पर जोर से कूद कर पकड़ लेता है। सारा जूथ उखड़ कर भाग पड़ता है। वह भीरू सिंह भी उसके पंजे से निकलकर भागने के लिए व्याकुल हो जाता है। परन्तु यह वन्य सिंह उसे छोड़ता नहीं। इस अवस्थिति में वह भीरू सिंह विह्वल चिल्लाता है और अपने साथियों को छोड़ जाते देखकर और भी चिन्ता के साथ मेमियाता है। यह वन्य सिंह चाहता है कि किसी प्रकार वह उस भ्रांत सिंह को अपने सिंहपन्ने का परिचय करा दे, परन्तु वह भीरु सिंह तो उसकी एक भी बात मानता नहीं—बल्कि भागना चाहता है। परन्तु वन्य सिंह भी उसे जाने के लिए छोड़ता नहीं। वह उसे घसीट कर जल के तालाब के पास ले जाता है और कहता है तू अपना मुँह जरा इसमें देख ! और यों देखते ही वह समझ लेता है कि—अरे, मैं तो भेंड़ नहीं बल्कि पराक्रमी सिंह हूँ। मैं तो सामान्य कोटि का बकरा नहीं। मैं तो वन कान्त केसरी हूँ। जंगली सिंह ने उसे दिखाया कि किस प्रकार मिमियाने की आदत को छोड़ कर सिंहनाद करना चाहिए, घास की पत्तियों का खाना छोड़कर किस प्रकार मांस और लोहू से भूख बुझानी चाहिए, और किस प्रकार भय से वर्जित होकर जंगल में यत्र-तत्र फिरना चाहिए। इस प्रकार के उपदेश से वह सिंह अपने स्वरूप को पहिचान जाता है और जंगल में निडर घूमने लगता है। इसलिए, हमें भी यह सीखना चाहिए कि सब कुछ मन की सीख पर निर्भर रहता है। जैसा मन को सिखायेंगे, वैसे ही कल्पना

वह करके बैठा रहेगा। जबकि व्यक्ति उचित रास्ते को पकड़ता है और उचित कार्य करता है—तो अन्त में उसे उचित मुक्ति भी प्राप्त होती है। वही व्यक्ति यदि गल्ती रास्ते को पकड़ता है और अनुचित कार्य करता है तो दुःख और क्लेशों में जा उलझता है।

चैतन्य सत्ता केवल एक ही है, परन्तु उसे गल्ती रीति से समझने के कारण भ्रांतियों की उत्पति होती हैं। अविद्या के वशवर्ती होकर हम एक में अनेकता का दर्शन करते हैं। नाम और रूपात्मक जगत् को सत्यता की रीति से देखते हैं तथा उसमें ब्रह्म की सत्ता को नहीं देखते। जैसे, एक व्यक्ति रस्सी में साँप को देख लेता है, वैसे ही लोग ब्रह्मात्मक जगत् को नामरूपात्मक समझने लगते हैं। रस्सी कदापि साँप नहीं होती। साँप केवल मन की सृष्टि है। जिसका कारण अविद्या है। वैसे ही जो कुछ है शुद्ध चैतन्य है, परन्तु अविद्या के कारण नामरूपात्मक जगत् को सत्य मानता है। शुद्ध और सनातन चैतन्य ही जगत् का अधिष्ठान है। साधक की साधना तभी पूरी होती है, जबकि वह अपनी अभिन्नता उस चिदानन्द ब्रह्म से कर लेता है। जो अपने को बँधा हुआ समझता है, वह हमेशा बँधा हुआ ही है और जो अपने को मुक्त समझता है, वह सदा मुक्त ही है। वास्तव में, आत्मा नित्यमुक्त है और यह कभी बन्धन की दशा को प्राप्त नहीं होता है। यह अपने मन ही की भ्रांति है जिसके कारण व्यक्ति अपने को बँधा हुआ मानता है और बन्धन में ही नित्य निरन्तर उलझा हुआ मानता है। आत्मा मूक साक्षी है, सर्वव्यापक है, पूर्ण तथा सभी प्रकार के भेद से शून्य है। यह चेतन है तथा गतिहीन, अनासक्त, अनीह और शान्त पारावार की भाँति है। केवल भ्रांति के कारण ही यह जगत् के रूप में प्रतीत होता है। अब हमें यही चाहिए कि भ्रांति का दूरीकरण ज्ञान के द्वारा कर दें। इसके लिए अनवरत चेष्टा चाहिए।

यह जानना चाहिए कि जो कुछ भी नामरूपात्मक है, सब मिथ्या है तथा जो नाम रूपों से विहीन है, वही सत्य है, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि एवं दुःखों में जो विचरता है, यह केवल भ्रांति के कारण देहाध्यास-जन्य है। यह केवल मन, बुद्धि और इन्द्रियों में आसक्ति के कारण है। यह और कुछ नहीं केवल प्रतीति मात्र है। वास्तव में केवल दर्पण की ही सत्ता है, जितनी भी छवि उसमें दीख पड़ती है, सभी गतिशील एवं विनाशी हैं। शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों की अपनी कोई सत्ता नहीं है। यह आत्मा में ही आरोपित है और आत्मा से ही सत्तावान् है। जैसे सर्वव्यापी आकाश घट से बाहर और भीतर—दोनों ही तरफ है, वैसे ही चेतन तत्त्व सभी वस्तुओं के बाहर और भीतर दोनों ही ओर है, जैसे शरीर की सत्ता जीवात्मा से है, वैसे ही जगत् की सत्ता ब्रह्म से है। जैसे जल, बुद्बुद् और तरंग सागर से भिन्न नहीं हैं वैसे ही यह सब कुछ प्रतीयमान जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। परमात्मा की सत्ता से अपरिचय के कारण जगत् की उत्पत्ति होती है, और इसके ज्ञान काल में सब कुछ का विलय हो जाता है। जैसेकि एक मिट्टी का कलश अन्त में मिट्टी रूपेण ही परिणत हो जाता है। जैसे एक तरंग और बुद्बुद् अन्त में सागर से मिलकर पानी ही रह जाता है, जैसे एक स्वर्ण कंकण कालान्तर में स्वर्ण नाम ही रह जाता है—वैसे ही परमात्मा से उत्पन्न यह जगत् भी परमात्मा में ही लीन हो जाता है। शरीर, बन्धन, मुक्ति, भय, नरक, स्वर्ग आदि की भावनायें अज्ञान से उत्पन्न होती हैं और ज्ञान में विलय कर जाती हैं। इन्हीं गल्ती विचारों के कारण जीवन की इच्छा बनी रहती है। वैसे तो परमात्मा इन सभी वस्तुओं से पृथक् है।

ब्रह्म और इसकी प्रकृति-शक्ति दोनों ही एक हैं। दोनों अभिन्न हैं। वे एकाकार और एकमय हैं। जैसे श्वेतत्व से हटकर दूध

की सत्ता नहीं रह सकती, जैसे दाहकत्व-शक्ति से पृथक् होकर अग्नि का अस्तित्व नहीं रह जाता वैसे ही प्रकृति-शक्ति ब्रह्म से भिन्न होकर नहीं रह सकती। वे पहलुओं के भेद से दो हैं किन्तु तत्व के भेद से उनमें अभेद है। यह प्रकृति-शक्ति ही है जिसके कारण मन और मनोमय जगत् की उत्पत्ति होती है। सत्व, रज और तम के गुणों से प्रकृति-शक्ति का निर्माण होता है। इन्हीं तीनों गुणों के क्षोभ से जगत् की उत्पत्ति होती है। ये ही गुणत्रय सृष्टि के कारण होते हैं और संसार में कोई भी वैसी वस्तु नहीं है जो गुणरहित हों। चेतना किसी भी वस्तु में अनुपस्थित नहीं है। फिर भी वह बहुत रीति से अपना निर्माण करती है। इस भौतिक सृष्टि में वैसी एक भी वस्तु नहीं है जो चैतन्य से रहित हो अथवा चितिशक्ति से शून्य हो और कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जो केवल चैतन्य ही हो। चेतना और अचेतना—सम्मिलित होती है। इसमें कारण यही कि गुणत्रय के अनुपात से चेतना में लाघव और गौरव हुआ करता है। यह गुणत्रय की शक्ति का ही प्रभाव है, जिसके कारण यह पूर्ण सा चेतना अचेतना सा, और ब्रह्म नामरूपात्मक जगत् की तरह भासने लगता है। प्रकृति-शक्ति में आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियाँ हैं प्रकृति-शक्ति अपने से ही आवरित होकर गुणों के सहयोग से नामरूपात्मक जगत् की रचना करती है। यह शक्ति माया और अविद्या के नाम से दो हैं। रज और तमोगुण प्रधान प्रकृति को अविद्या कहते हैं तथा चैतन्य माया में प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य को ईश्वर कहते हैं, जो सभीगुणों का नियामक होता है। ईश्वर सृष्टि का विधायक है। वह सर्जित, असर्जित एवं सर्ज्य सभी वस्तुओं का नियमन करता है। वही परमात्मा जबकि अविद्या में प्रतिबिम्बित होता है तथा गुणत्रय के वशीभूत रहता है तो उसे जीवात्मा की संज्ञा दी जाती है।

गुणों के तारतम्य से ही पुरुष का पुरुष से, स्त्री का स्त्री से और पुरुष का स्त्री से भेद दिखाई पड़ता है। जितने भी भेद हम देखते हैं, जितनी भी भिन्नतायें प्रतीत होती हैं, विश्व में ये सब तीन गुणों के ही न्यूनाधिक्य के कारण होती हैं। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में तीनों गुणों का सद्‌भाव रहता है, परन्तु तीनों की मात्रा हम उनमें समरूप से नहीं पाते हैं। दो को दबाकर तीनों में से कोई एक गुण प्रधानता को प्राप्त होता है और उसी गुण के अनुरूप मनुष्य के चरित्र, मनोबल, योग्यता, मेधादि की न्यूनाधिकता देखी जाती है। प्रधान गुण के अनुकूल ही व्यक्ति में संतपने का होना, दुष्टत्व का होना, इच्छा रहित वा सदिच्छा-वान् होना देखा जाता है।

जबकि मन पर तमोगुण का प्रभाव होता है तब ऐसे मनुष्य की प्रवृत्तियाँ नीच हो जाती हैं। यह गुण हमें गड्ढे में खींचकर ले जाता है, बन्धन और अन्धकार में डाल देता है। तमोगुण एक साधक को आलस्य, तंद्रा, प्रमाद, काम, क्रोध आदि दुर्गुणों का दास बना देता है। यह तमोगुण का ही प्राबल्य है जिसके कारण हमारी आसक्ति इन्द्रियों और इन्द्रिय-सुलभ भोगों में हो जाती है। ऐसा व्यक्ति कदापि जीवन में उच्च आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकता है उच्च कोटि के चरित्र और धर्म की महिमा को नहीं समझ सकता है। जबकि रजोगुण की प्रधानता रहती है, व्यक्ति में सक्रियता बढ़ जाती है। यह सत्व और तम—दोनों को दबाकर प्रचुरता को प्राप्त रहता है। एक अवस्था में तो यह मुक्ति के लिए चेष्टाशीलता लाती है, दूसरी स्थिति में यह बन्धन का भी द्वार खोलती है। रजोगुण के कारण मन में चंचलता बहुत बढ़ जाती है और हजारों–करोड़ों इच्छाओं का साथ ही उदय हो जाता है। ऐसा व्यक्ति कुछ न कुछ किए बिना नहीं रह सकता। रजोगुण हमारे अन्दर शौकीनी एवं विलासिता का अभिवर्द्धक होता है।

रजोगुण के कारण मद, मोह, दंभ और अहंकार की परिमिति बढ़ती जाती है। क्रोध, रूक्षता, अशुद्ध विचारपन, आसक्ति, कार्यशीलता सब बढ़ जाती हैं। रजोगुण के प्राबल्य की अवस्था में व्यक्ति इन्द्रिय जन्य भोगों के प्रति अधिक आसक्त हुआ सा दीखता है। यह सांसारिकता में हमें घसीट ले जाता है। जब सत्व गुण की प्रधानता हमारे अन्दर विद्यमान होती है, तब, फिर मनुष्य का मन काम-क्रोधादि-परक विचारों से शून्य रहता है, दुर्बलताओं और दुरितों से रहित रहता है। एक सत्व गुण का गुणी व्यक्ति शुद्ध और सौम्य जीवन व्यतीत करता है उसे शक्ति और शांति मिलती हैं। सत्वगुणी व्यक्ति सभी प्राणियों पर दयावान् होता है। वह सत्यवादी, पवित्र,ईश्वरीय भाव में रहने वाला, ईश्वर से भीत, अभय, शुद्ध हृदय वाला, धीर, ज्ञानी, समचित्त, दानी, आत्मनियंत्रित,यज्ञादि कर्मों को निभाने वाला, धर्मशास्त्रज्ञ, धर्मानुचरण करने वाला, प्रेम का भाव बरतने वाला, दयालु, सहृदय तथा कामुक विचारों से रहित होता है। उसमें वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शान्ति, भयता, शीलता, नम्रता, मन की अचंचलता, धीरता, क्षमा, साहस, उदारता, शृणाव का अभाव, दंभ का अभाव—प्रभृति अच्छे गुण होते हैं। बुरी वस्तुओं में सत्वगुण निष्ठ व्यक्ति की अधोगति नहीं हो सकती। सत्वगुणी व्यक्ति एकान्तप्रिय होता है। ध्यानरट रहना चाहता है। और उच्च आदर्शों के अनुकरण की इच्छा रखता है।

ज्ञान का मार्ग यद्यपि ह्रस्व है, परन्तु इसपर संक्रमण करना कोई साधारण बात नहीं। हर एक व्यक्ति इसपर चलकर पहुँच नहीं सकता। इस गहन और क्षुरि का-धार-वत् मार्ग पर सबका चलना संभव नहीं। ज्ञान के निगूढ़ तत्त्वों को समझना उतना सरल नहीं। ज्ञान के तत्त्वों को समझने के लिए सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। इसके लिए शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा,

समाधान, मुमुक्षुत्व और नित्यानित्य विवेक—इन आठ से सम्पन्न होना अनिवार्य है।

(१) शम अथवा मन का विक्षेप रहित होना—साधारणतः व्यक्ति का मन सर्वदा विक्षिप्त रहता है जबतक कि वह जागृतावस्था में है। यह चंचल और डँवाडोल रहता है। एक साधारण व्यक्ति की अपनी इच्छाओं और वासनाओं पर अपना कोई लगाम नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति ज्ञानयोग का मार्ग नहीं पकड़ सकता। वह व्यक्ति, जिसका अपने मन और मनोविचारों पर नियंत्रण है, जिसमें लक्ष्य के प्रति अभिगमन के लिए लगन है, वह सांसारिक पदार्थों से अनासक्त रहने का आदी है। वही ज्ञानयोग का मार्ग ग्रहण करने के योग्य है।

(२) दम अर्थात् आत्मसंयम (आत्मनिग्रह)—स्थूल तथाविध सूक्ष्म इन्द्रियों पर नियंत्रण ही दम कहलाता है। सभी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने नियत गोलकों में लाकर रखना, यही दम कहलाता है। विषय के प्रति सहज ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति हुआ करती है, इस प्रकार मन की किरणों का बाहर प्रक्षेपण होता रहता है। जो व्यक्ति नित्य निरन्तर इन्द्रिय-जन्य-आनन्द के उपभोग करता चला जाता है और उसपर कोई नियंत्रण नहीं रखता वह कदापि ज्ञानयोग का अधिकारी नहीं है।

(३)-उपरति अर्थात् आत्मनिरोध—बाहरी विषयों से उपरामता ही उपरति कहलाती है। बाहरी भोग-पदार्थों के विषय में चिन्तन का सर्वथा अभाव ही श्रेष्ठ उपरति कहलाती है। विषयों और भोग-पदार्थों में जिसका चित्त लवलीन रहता है। वह कभी ज्ञानमार्ग को ग्रहण नहीं कर सकता है। ऐसे व्यक्ति का मन अनेकानेक विचारधाराओं में परिप्लावित रहता है।

जिस व्यक्ति का मन अनेक दूषित विचारों का घर है। वह कभी ज्ञानयोग के मार्ग पर चलकर पहुँच नहीं सकता। वह कभी ज्ञानयोग के निगूढ़ तत्त्वों को बुद्धिगत कर नहीं सकता है। जिस मन के दायरे में निरन्तर विचार और इच्छाओं का संचरण है, वहाँ रहने वाली प्रतिमा किसी विशेष उपयोगी नहीं होगी और ऐसा व्यक्ति कभी निराकार परमात्म-तत्त्व को ध्यान द्वारा जान नहीं सकता है। उसमें विवेक का अभाव ही रहेगा।

(४)-तितिक्षा अथवा सहनशीलता— दुःख, क्लेश, आमर्ष और संकटों को बिना प्रतिकार की इच्छापूर्वक सहना, यही तितिक्षा कहलाती है। इसमें तितिक्षु को किसी प्रकार की शिकायत भी नहीं करनी होती है और दुःखों के अभ्यागम में हेतुभूत जो होते हैं, उनके लिए प्रतिकार की भावना भी नहीं रहा करती है। तितिक्षा का अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति अपने हाथ को अग्नि में डाल देवे और अप्रतिकार पूर्वक उसकी वेदना को सहता रहे। ऐसा नहीं करना चाहिए। जो भी स्वाभाविक दुःख-दर्द आये उन्हें बिना विरोध के शान्तिपूर्वक सह लेना तितिक्षा कहलाता है। प्रकृति का विरोध तितिक्षु पुरुष को नहीं करना चाहिए। वे दुःखों का आह्वान भी नहीं करते और आने पर उसके निवारण की भी परवाह नहीं करते। निराश और हताश भी नहीं होते। वे दुःखों को देखकर घबड़ाते नहीं। अथवा धीरज को भी छोड़ते नहीं— मन के संतुलन को रखते हुए तितिक्षा की कसौटी पर वे ठीक उतरते हैं।

(५)-श्रद्धा अथवा विश्वास—श्रुति और गुरु के वाक्यों में अटूट विश्वास और ईश्वर प्राप्ति के लिए उत्सुकता को श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा के कई प्रकार हैं–ईश्वर में, सत्य में, शास्त्र के वाक्यों में, और अपने आप पर श्रद्धा—ये ही श्रद्धा के विविध रूप हैं।

सच्ची श्रद्धा के द्वारा हम आश्चर्य जनक कार्य कर सकते हैं। इसके द्वारा पर्वत भी चलायमान हो सकते हैं। सबकुछ यहीं प्राप्त कर सकता है और श्रद्धा के बिना किसी भी वस्तु की प्राप्ति से वंचित रह सकता है। संशयात्मा व्यक्ति कभी भी लक्ष्य तक पहुँच नहीं सकता। वह आध्यात्मिक प्राप्ति कर नहीं सकता। साधक का कर्तव्य है कि वह प्रथम अपने आप पर सर्वाधिक श्रद्धा रखे। (अपने को हीन न समझे) अपने आप में जिसे श्रद्धा नहीं है, वह कभी भी सफलता को प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति सर्वत्र धतकार खाता फिरता है और नित्य ही दासता की बेड़ी में बँधा रहता है। जिसकी ईश्वर के ऊपर भी श्रद्धा नहीं है वह ईश्वर प्राप्ति के लिये प्रयास नहीं करेगा। शास्त्र-वाक्यों में भी श्रद्धा की प्रचुरता चाहिए क्योंकि इसके बिना मार्ग निष्कण्टक नहीं होता। फिर गुरु के वाक्यों में तो श्रद्धा का होना परम अनिवार्य है क्योंकि गुरु की बातों में श्रद्धा न होने से उनके बताये हुए मार्ग पर नहीं चलेगा तो कुछ भी प्राप्ति नहीं कर सकेगा। ज्ञानयोग के साधक को उपरोक्त तत्त्वों में श्रद्धा रखते हुए बढ़ना चाहिए। स्वावलम्बी होना चाहिए और धीरतापूर्वक मार्ग पर संक्रमण करना चाहिए ज्ञानयोग में श्रद्धा एक प्रमुख अंग है

(६)-समाधान अथवा निज स्वरूप में स्थिति—
ब्रह्म में नित्य निरन्तर आस्था बनाये रहना ही समाधान कहलाता है। यह केवल विचारों की बोझिलता ही नहीं है, अथवा यह नहीं कि परमात्म-दर्शन पर विचारों की झड़ी फेंकते जायें। उनके विषय में अध्ययन कर-करके संतुष्ट होते जाएँ। अभिप्राय यह होना चाहिए कि सत्यत्व की समीक्षा करते हुए हमारा मन उसमें एकाग्र हो और हम उसका साक्षात्कार करते हुए उसमें

विलीन हो सकें। साधारण रीति का मन इधर-उधर छलांगे मारता रहता है और सत्य वस्तु को ठीक-ठीक ग्रहण नहीं करता है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए अपने मन को रोकना, उसे बाँधना और एक विषय पर एकाग्र करना पड़ेगा। वह विषय ब्रह्म ही है। सत्य की समीक्षा ही है। ज्ञानयोग के साधक को एकाग्रता विषयक यह अभ्यास जरूर करना होगा। इसके बिना ज्ञान में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।

(७)-मुमुक्षुत्व अथवा मोक्ष की उत्कट इच्छा— मुक्ति के लिए साधकों का प्रयास तीन प्रकार से होता है। मन्द, मध्यम और तीव्र। मन्द और मध्यम कोटि का मुमुक्षुत्व हो तो ज्ञानयोग के अनुसरण में सफलता नहीं मिल सकती है। जो साधक संसार के तापों से मुक्ति के लिए उत्कट इच्छा को रखता है, जन्म, जरा, दुःख; व्याधि से त्राण पाता हुआ अपने स्वरूप में सदा स्थित होने की तीव्र इच्छा रखता है। वही ज्ञानयोग का अधिकारी है।

(८)-नित्यानित्य विवेक—सत्य और असत्य वस्तुओं में यथार्थ विवेचना ही नित्यानित्य वस्तु की विवेचना कहलाती है। साधक, जो ज्ञानयोग का अनुसरण करता है, उसकी बुद्धि बड़ी प्रखर होनी चाहिये। उसमें विचार शक्ति की प्रचुरता होनी चाहिये। यह विचार भी विवेकपूर्वक होना चाहिये। साधक को सत्य और असत्य वस्तुओं के बीच ठीक-ठीक विचार करना चाहिये तथा असत्य को छोड़कर सत्य को ग्रहण करना चाहिये। जिस साधक में यह शक्ति ठीक पनप नहीं पाई है, वह ज्ञानयोग के मार्ग का अवलम्बन नहीं कर सकता। उपरोक्त आठों सद्गुणों के अभाव में जो साधक ज्ञानाभ्यास करने लगते हैं, वे किसी प्रकार की प्रगति के बदले अपना बेड़ा लेकर डूब जाते हैं।

बहुतेरे साधक तो अपना अहित कर लेते हैं और बहुत ऐसे होते हैं कि जो उलटे मार्ग का अवलम्बन कर अपने को गहरी खाई में ले जाते हैं और विषय वासनाओं के अधीन हो जाते हैं । ऐसे लोग बस योंही गप मारते जाते हैं कि संसार असत्य है और ब्रह्म सत्य है । तोते की तरह इन वाक्यों का वे उच्चारण मात्र करते चले जाते हैं और इसके अर्थ पर चिन्तन नहीं करते। उनके लिए न तो संसार की ही असत्यता रहती है और न तो ब्रह्म की ही सत्यता समझ पड़ती है । ये आत्म-प्रवंचना का ढंग अपनाते जाते हैं । एक बुद्धि विहीन व्यक्ति सत्यता की व्याख्या को सुनकर चकरा जाता है, क्योंकि पहिले ही कहा जा चुका है—कि साधक को ज्ञानमार्ग के लिये तथोक्त सद्गुणों का आदान कर लेना चाहिये । यहाँ तक कि उनके श्रवण के लिए भी जितनी योग्यता अपेक्षित है । वह बेशक हो लेनी चाहिये। बिना इन गुणों वे साधक मतवाले की तरह हो जाता है । वही साधक जो साधना के योग्य सभी गुणों को अधिकार कर चुकता है, तथा उपरोक्त-नियमों के अनुसार चलकर आता है—सभी पापों से विमुक्त होकर ज्ञानयोग का अधिकारी होता है । उसे ही ज्ञानयोग के वाक्यों के श्रवण में अधिकार है । तथा उसके अनुकरण एवं अनुसरण में अधिकार है । उपरोक्त गुणों से सम्पन्न साधक ज्योंही किसी योग्य गुरु के द्वारा श्रुति वाक्यों को सुनता है, वह उसी क्षण ज्ञान प्राप्ति करता है । कुछ और प्रकार के भी साधक हैं जो ठीक ठीक इस कोटि पर नहीं उतरे हैं, उनमें कुछ कमी अखरती है—उन्हें साधना के मिस योग्यता प्रचुर प्राप्त नहीं रहती और इसलिए मंत्रदीक्षा, निदिध्यासन शिक्षादि देकर गुरु उनको योग्यता प्रदान करता है । इन साधकों के लिए निम्न-लिखित साधनाएँ उपयोगी होंगी—

सर्व प्रथम उन्हें अपने आपसे प्रश्न पूछना चाहिये 'मैं कौन हूँ ?' इस गवेषणा विधि को अपनाना चाहिये । अपने से अलग सभी वस्तुओं को 'नेति-नेति' प्रक्रिया से हटाते जाना चाहिये। 'मैं यह शरीर नहीं हूँ, ये सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियाँ भी नहीं हूँ, यह प्राण, मन, और बुद्धि भी नहीं हूँ, इन सबों में से मैं कुछ भी नहीं हूँ। ये सभी वस्तुयें आदि और अन्त वाली हैं। ये सब वस्तुयें अस्थिर और विनाशी हैं मैं तो वही शुद्ध, बुद्ध, सनातन और पुरातन आत्मा हूँ। आत्मा में कोई जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, रूप, रंग, जाति, प्रथा इत्यादि नहीं है। इसे खड्ग काट नहीं सकता। इसे कोई छेद नहीं सकता। पवन इसे सुखा नहीं सकता। अग्नि इसे जला नहीं सकती। सूर्य इसे तपा नहीं सकता। जल इसे भिगा नही सकता। मैं वही अनन्त हूँ। जिसका आदि और अन्त कोई नहीं है। मैं वही शुद्ध, साहसिक और परिपूर्ण सच्चिदानन्द हूँ। मैं ब्रह्म हूँ और उसकी शक्ति हूँ। मैं विष्णु हूँ और उसकी शक्ति हूँ। मैं शिव हूँ और उसकी शक्ति हूं। मैं देवताओं का भी देवता हूं। ईश्वरों का भी ईश्वर हूँ। प्रकाशों का भी प्रकाश हूँ। शक्तियों की भी शक्ति हूँ। जीवनों का भी जीवन हूं। मैं सत् चित् और आनन्द हूँ। मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ।"—नवीन कोटि के साधक को इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। ॐकार का उच्चारण करते हुए अपने मन को आत्मा में जमाकर रखना चाहिये। जब यह अभ्यास ठीक रीति से चलाया जाय, फिर साक्षात्कार पर्यन्त मार्ग निर्विघ्न बनकर रहेगा।

साधना की दूसरी विधि-व्यापक भावना है—"मैं ही अनन्त आत्मा हूं।" यह आत्मा सर्वव्यापक है। उसका कोई आदि अथवा अन्त नहीं है। ब्रह्माण्ड के साथ तुलना करने पर ऐसी दुनिया एक रेती के समान है। जैसे महासागर में असंख्य

बुदबुदे उठते और फटते रहते हैं वैसे ही असंख्य जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय ब्रह्माण्ड में सदा होता रहता है। यदि ऐसी बात रही तो फिर इस अपने छोटे जगत् को कौन पूछे ? उस अनन्त में इसका स्थान ही क्या है ? अनन्त के साथ तुलना करने में इसका मोल ही क्या है ? जब इस विस्तृत संसार की ही कोई महत्ता नहीं, फिर यहां के धन-जन एवं ऐहिक पदार्थों में क्या विशेषता रही ? यहाँ के चन्द पूंजीपतियों और धनाढ्यों की कौन कदर करे ? फिर इस छोटे शरीर की क्या हस्ती ? इस मन और इन्द्रियों के व्यापार की ओर कौन ध्यान दे ? अनन्त में इनका स्थान क्या है ? इन इन्द्रिय-जन्य गंदे भोगों को कौन पूछता है ? ये सब क्षणिक और अस्थायी वस्तुएं हैं। ये भोग योनि की निरानन्द वस्तुएें हमें कैसे आनन्द पहुंचा सकती हैं, सुखी कर सकती हैं। कोई भी मुझे दुर्बल नहीं बना सकता, कोई भी मुझे असत् मार्ग पर नहीं ले जा सकता, कोई भी मुझे बन्धन में नहीं डाल सकता। कोई बन्धन और भ्रान्ति मेरे लिये नहीं है। 'मैं परम पुरुष हूँ, सच्चिदानन्द हूं।' 'मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ।' इस प्रकार के विचारों से अपने मन और भाव का विस्तार करते जाओ और सर्वव्यापक आत्मा में अपनी स्थिति बनाए रहो। यदि ऐसे विचारों से हमारा मन परिपुष्ट हो चुकेगा तो विषय-पदार्थों से शीघ्र उपरति होगी। संसार की लुभाने वाली वस्तुयें फिर हमारी ओर आकर्षण भरी दृष्टि में हेतु नहीं बनेंगी। यह विधि हमें भय रहित कर देगी और मुक्ति की ओर अग्रसर करेगी। समग्र साधना-विधि के साथ ॐकार का उच्चारण करते रहना चाहिए।

तीसरी विधि:—ऐसे स्थल पर बैठ जाइए जहाँ से आकाश या समुद्र खुला देख सकते हैं। दृश्य के बीच में किसी भी वस्तु की रुकावट नहीं होना चाहिये। मन के दायरे को अथवा दृष्टि

के दायरे को इतना विस्तृत हो जाने दीजिए। सागर की विस्तीर्णता या आकाश के फैलाव पर दृष्टिपात करते हुए अपने में विस्तीर्णता की अनुभूति कीजिए। मन में इस प्रकार विचार कीजिए कि आपकी आत्मा विस्तृत सागर की तरह अथवा बिस्तृत आकाश के सोपम है। यह अवधारणा कीजिए कि आपकी सत्ता सभी पशु, पक्षियों, बच्चों, स्त्रियों और पुरुषों में है। आपकी आत्मा ही सभी कीट-पतंगों तथा पौधों में है। ऐसा सोचना चाहिए कि अपनी आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं कहीं। इसी विचार से मन को बराबर प्रेरित करना चाहिए। यों चराचर में एक ही अभिव्यक्ति दीख पड़ेगी। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में अपनी आत्मा के ही साक्षात्कार करने की विधि डालनी चाहिए। इस विचार के सहित अपने आपको भूल जाना चाहिए। अपने शरीर की विस्मृति कर देनी चाहिये। शरीर, मन और तुच्छ अहंकार को त्याग दीजिये। यही बारंबार सोचना चाहिए कि मैं नित्य सनातन और शुद्ध-बुद्ध आत्मा हूँ। यह सोचिए कि मैं वही आत्मा हूँ जो सदा मुक्त है, जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु से सर्वथा रहित है, जिसमें लिंगभेद, जाति-भेद अथवा वर्णभेद नहीं है। इस विचार रूपी धारणा को हर समय मन में रखिये। इसमें ही निवास कीजिए। और इसी विचार में रमण कीजिए। अपने पतन, निर्बलता तथा हतोत्साह की भावना को मत दुहराइए। ऐसे अपवित्र और अवाञ्छित विचारों को बाहर फेंकिए। ये विचार आपको भय देते हैं, चिन्ता और ग्लानि के हेतु बनते हैं। अतः एक क्षण के लिए भी इन विचारों को अपने मन में स्थान नहीं देना चाहिए। अपने मन में उच्च आशाओं को, आदर्शों को, शक्ति-प्रद विचारों को स्थान दीजिए तथा बारम्बार यह सोचिए कि—मैं वही नित्य मुक्त आत्मा हूँ। पूर्ण और सनातन हूँ। अपने मन और इन्द्रियों

का स्वामी हूँ। मन के ऊपर इन विचारों का दबाव डालिये ! इन्हीं विचारों में निवास करिये तथा इनके ही अनुकूल आचरण का निर्माण कीजिये। यों मानसिक स्तर का विस्तार होगा। यदि इस प्रकार की साधना निरन्तर की जाय तो अपार शक्ति हमारे अन्दर संचरित प्रतीत होगी। मन, बुद्धि और बौद्धिक संकल्पों में दृढ़ता आयेगी। कायिक, वाचिक और मानसिक भोगों में वैराग्य उत्पन्न होगा। तथा साधना में निरन्तर सहायता मिलेगी। इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार का मार्ग खुल जायेगा और मुक्तिपद के आप भागी होंगे। इन विचारों के साथ ॐकार जप करते रहिये।

——o——

— ७ —

राजयोग

मुक्ति प्राप्ति के लिये चतुर्थमार्ग "राजयोग" है। मनोजय के लिए यह वैज्ञानिक गवेषणा है। युक्तिपूर्ण यही सर्वसरल रास्ता है जिसके द्वारा मनोनियन्त्रण तथा समाधि की प्राप्ति हो सकती है। राजयोग हमें मन के विज्ञान, विचार-विधि, मन के आन्तरिक कार्यक्रम, अहंकार, बुद्धि, प्रभृत्ति—सबके बारे में प्रचुर ज्ञान प्रदान करता है। बाहरी चीजों के परिवेक्षण तो हम चक्षु द्वारा कर लेते हैं, किन्तु अन्तःकरण का प्रत्यक्षीकरण अथवा मन तथा इन्द्रियों के आन्तरिक कार्यों का निरीक्षण हमारी प्रतिभा के अतीत की वस्तु है। मन के द्वारा ही हम इसमें सफल हो सकते हैं। इसकी विधि एकाग्रता की विधि है। राजयोग का यही ध्येय है, अर्थात् इसके द्वारा हम मन के एकाग्र करने की कला को सीख पाते हैं और इसका प्रयोग किस विधि से करके हम आन्तरिक सूक्ष्मताओं को जान सकते हैं, यह भी राजयोग का ही प्रकरण है। राजयोग के मत में ऐसा नहीं है कि—हम अन्धाधुन्ध औरों के मार्ग-अवलम्बन किए चलें। हमें तो मन की गतिविधियों की परख करनी चाहिये। विचारों का अध्ययन करना चाहिए और तब अपने अनुभवों से सब कुछ को अजमाकर अपना रास्ता कायम करना चाहिए। राजयोग इसलिए किसी जाति, नीति, प्रथा और सम्प्रदाय की स्थापना नहीं करता किन्तु यही कहता है कि प्रत्येक मानव-योनि को तर्क और गवेषणा के लिए अधिकार

है। पहिले विचारों के द्वारा कुछ निर्णय करना चाहिए। फिर सिद्धान्त की रचना करनी चाहिए। राजयोग के अनुसार किसी पुस्तक व व्यक्ति विशेष की प्रामाणिकता भी सम्यक् नहीं मानी जाती। परन्तु इसका सर्वस्व अपनी अनुभूतियों पर ही निर्भर रहता है। सत्य की स्वतोऽनुभूति ही योग की आधारभूमिका है।

राजयोग आठ अङ्गों में विभाजित किया जाता है। इसलिए इसे 'अष्टांगयोग' भी कहते हैं। उनके आठ अङ्ग ये हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि।

(१) **यम**—ऋषिपतंजलि के अनुसार यम शब्द का अर्थ है—अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह।

(क) **अहिंसा अथवा जीवदया**—जो योगी होने का अभिलाष रखता है, उसे सब जीवों पर दयाभाव अवश्य बरतना चाहिए। ईश्वर के साम्राज्य में वे ही पहुँच सकते हैं, जिनके हृदय में करुणा और मैत्री की भावना रहेगी। काया,वाचा और मानसा इन तीनों विधि से किसी प्राणी की हिंसा नहीं करना ही अहिंसा की परिभाषा है। हमारा कर्तव्य है कि हम सब जीवों में आत्मभाव देखें तशा किसी से द्वेष न करें। सबके हित और मंगल की बात सोचें। द्वेष का अभाव, सद्विचारों का प्रवाह तथा जीवों के प्रति कारुण्य—ये अच्छे गुण प्रत्येक में होने चाहिए और ये ही सत्यत्व के निर्णायक हैं। साधक में इनका होना अनिवार्य है। उसे काया, वाचा और मन से किसी का दमन नहीं करना चाहिये और किसी अन्य को भी इस प्रकार के दमन के लिए प्रेरित नहीं करना चाहिए। स्वयं हिंसा करना या दूसरे द्वारा हिंसा करवाना दोनों ही पाप हैं। अहिंसा की सन्निधि में बड़े विषैले और नटखट पशु भी सीधे सच्चे और पालतू बन जाते हैं। वे नटखट पशु भी अहिंसा के प्रभाव से प्रभावित होकर अहिंसक के

पास आते ही अपने प्रभुत्व को भूल जाते हैं। जबकि अहिंसा में मनुष्य अधिष्ठित हो चुकता है, वैरी भी उसके मित्र बन जाते हैं और उसके प्रति किसी की भी द्वेष भावना नहीं रहती है।

(ख) सत्यवादिता—धर्मक्षेत्र में जीवन-यापन करने वाले धर्म-निष्ठों में सत्यता का बाहुल्य अवश्य देखा जाना चाहिये। काया वाचा और मनसा—सभी प्रकार से सच्चा, सत्यवादी और भक्त होना अनिवार्य है। सत्यवादिता, इमानदारी, खुले दिल का रहना—ये सब नैतिकता के प्रधान गुण हैं और सब में इनका बाहुल्य हुए बिना नैतिक-मार्ग का अवलम्बन कठिन रहेगा। झूठ बोलने वाला, धोखा देने वाला, चालाकी चलने वाला, दंभ रखने वाला व्यक्ति कभी भी धार्मिक नहीं हो सकता। वह कदाचित् ही धर्मानुसरण में सफलता प्राप्त कर सकता है। अपने प्रत्येक कार्यकलाप में हमें सीधा, सच्चा और इमानदार होना चाहिये। जबकि सत्य में दृढ़ निष्ठा हो जाती है, तो वह सत्य-निष्ठ व्यक्ति जो कुछ भी कहता है, सब सत्य ही हो जाता है।

(ग) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन—मनुष्य की शक्ति दो तरफ जाने वाली होती हैं। एक का गमन ऊर्ध्व की ओर तथा दूसरे का अधः की ओर होता है। भोगों—के द्वारा शक्ति का अभिगमन नीचे की ओर शुरू हो जाता है। यह अधोगमन वाली शक्ति का प्रवाह मनुष्य को बिल्कुल पतन की ओर ले जाता है। जितनी ही अधिक यह शक्ति क्षीण होती है, मनुष्य में उतनी ही शारीरिक क्षीणता प्रतीत होती है। मानसिकशक्ति,स्मृति-शक्ति, तथा सुदृढ़ संकल्पशक्ति की प्राप्ति चाहने वाले इस शक्ति का अपव्यय कदापि न करें। इस विषय पर विशेष चर्चा के लिये हमारी पुस्तक (*The Way to Peace, Power & Long Life*) को देखिये ! चरित्रहीन व्यक्ति तथा अपनी शक्ति

के ऊपर नियंत्रण को खो देने वाला कभी भी आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता है। जबतक मनुष्य ब्रह्मचर्य में ठीक प्रकार से अधिष्ठित नहीं है, तब तक वह आध्यात्मिक उन्नति के लिये तरसता ही रहेगा। वह ईश्वर-साक्षात्कार के मार्ग पर तब तक फिसलता रहेगा जबतक कि वह चरित्र-निर्माण की सच्ची सीख न सीख लेता है। बिना ब्रह्मचर्य के समाधि प्राप्ति असंभव है। ब्रह्मचर्य के तीन भेद गिनाये गये हैं। काया, वाचा मनसा और जबकि व्यक्ति लगातार १२ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करता है,उसके शरीर के अग्रभाग में एक नाड़ी विशेष की उत्पत्ति हो जाती है। इसका विकास सबके लिए अज्ञात रहता है। इस नाड़ी के अभ्युदय के साथ साधक में छट्ठी इन्द्रिय की शक्ति-विशेष का प्रादुर्भाव होता है, और इसके द्वारा वह भूत, भविष्य और वर्तमान सब बातों को जान जाता है। एक दृढ़ ब्रह्मचारी के लिये ईश्वर-साक्षात्कार सुलभ हो जाता है। एक सच्चा ब्रह्मचारी अनन्त शक्ति को प्राप्त करता है। ऐसा तेजस्वी पुरुष सुदीप्त सूर्य की भांति देदीप्यमान होता है। वह जीवन के हर एक क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है। उसके प्रत्येक वचन और कार्य में शक्ति का समन्वय रहा करता है। ऐसे शक्ति-सम्पन्न पुरुष के लिए संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जो अप्राप्य रहे।

(घ) अस्तेय अथवा चोरी न करना—चोर कदापि धार्मिक नहीं हो सकता। वह आध्यात्मिक प्रगति नहीं कर सकता। धर्मनिष्ठ पुरुष किसी प्राणी को दुःख पहुँचाना नहीं चाहता बल्कि यही चाहता है कि सबका मंगल हो, सबका कल्याण हो, सब सुखी रहें। किसी की वस्तु को चुरा लेना, यह तो वास्तव में उसे दुःख देना ही है। यह तो उसे महान् संकट ही देना है।

इस प्रकार वह पाप का भागी होता है। एक पापी व्यक्ति धार्मिकता का अनुसरण नहीं कर सकता और आध्यात्मिक मार्ग का संवरण नहीं कर सकता। इसलिए आध्यात्मिक पथ के पथिक को कभी भी किसी दूसरे की वस्तु नहीं चुरानी चाहिये। यह चोरी की भावना काया, वाचा और मनसा—किसी भी प्रकार नहीं होनी चाहिये। जो अस्तेय में निष्ठा करते हैं, उनके पास ईश्वर की कृपा से स्वयं सभी चीजें पहुंच जाती हैं। उन्हें किसी का प्रश्रय लेना नहीं पड़ता।

(ङ) अपरिग्रह (दान के रूप में किसी से कुछ न लेना)

सेवा व दान के रूप में जो कोई कुछ लेता है उसे उस सेवा व दान के प्रति किसी न किसी रूप में किसी को चुकाना ही पड़ता है। किसी से यदि हम कुछ लेते हैं तो उसका आभारी होना हमारे लिए अनिवार्य है। इस कृतज्ञता का आभार सदा ग्रहण करना ही पड़ता है। बारम्बार किसी से कुछ लेते रहने से हमारा चित्त उसमें आसक्त हो जाता है और उससे कुछ न कुछ प्राप्त करने की आशा बनी रहती है। ऐसी आसक्ति पूर्ण भावना हमारे चित्त में दूषण पैदा करती है और आध्यात्मिक प्रगति में अड़चन पड़ती है। और भी, यदि किसी पातकी का दिया गया दान हो, यानि किसी दुष्ट चरित्र वाले ने दान दिया हो तो वैसा दान लेने वाले के मन में भी विक्षोभ पैदा करता है तथा बुरी भावनाओं का जनक होता है। ऐसा दान लेने वाले के लिए बड़ा अहितकर है। इस प्रकार के दान लेने से आध्यात्मिक पतन की आशंका बनी रहती है और व्यक्ति पतन के गड्ढे में गिरने के लिए भी तैयार ही रहता है। जो साधक किसी प्रकार का दान स्वीकार नहीं करता, वह साधना के पथ में दृढ़ता को प्राप्त करता है तथा अतीत जन्मों की स्मृतियाँ भी उसे दीखने लगती हैं।

इन गुणों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों का मत है कि 'यम' की विधि में क्षमा का भी योग है। यह सहनशीलता का द्योतक है। यह बिना प्रतीकार पूर्वक सुख दुखों के सहन का नाम है। दुःख और सुख में, असफलता और सफलता में, हर्ष और उद्वेग में—सर्वत्र समभाव बर्तना क्षमा कहलाता है। धृत्ति, दया आर्जव और मिताहार—ये भी सत्त्व गुण के पोषक हैं।

(२) **नियम**—ऋषि पतंजलि के अनुसार नियम का अर्थ है—पवित्रता, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।

(क) **पवित्रता**—यह दो प्रकार की है। आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक पवित्रता का अर्थ होता है मन में सौम्य विचारों का होना, विचारों में पवित्रता का होना, चित्त में एकाग्रता। उचित और समीचीन विचार समूहों के हित मन का संतुलित होना। बाहरी शुद्धता का अर्थ है शरीर को स्वच्छ रखना। सुन्दर और स्वस्थ रखना। इस प्रकार हमें साफ सुथरी जगह में रहना चाहिए और शुद्ध जलवायु का उपयोग करना चाहिए। शुद्ध और सात्विक भोजन करना चाहिए। सात्विक वातावरण में चरित्रवान् मित्रों के साथ रहना चाहिए। साधुओं और सन्तों के बीच रहना चाहिए। सच्चरित्र पुरुषों तथा विद्वानों की संगति अपनानी चाहिए। एक साधना मार्ग के पथिक को दोनों साधना अर्थात् आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकारकी पवित्रता बरतनी चाहिए उनमें आन्तरिक पवित्रता पर तो ध्यान देना पहली बात है। बाहरी पवित्रता यदि कहीं न बन सके तो घबराने की कोई वैसी बात नहीं परन्तु आन्तरिक पवित्रता की ओर हमारा झुकाव जरूरी ही रहे। जबकि आन्तरिक और बाह्य पवित्रता प्रचुर रूप में बढ़ती जाती है तो यह मानसिक स्तर को तथा शारीरिक नाड़ियों में शुद्धि प्रदान करती है और इस प्रकार साधक प्रचुर वैराग्य की

भावना से भावित हो जाता है। यहाँ तक कि अपने शरीर में आसक्ति से भी छुटकारा मिलता है। यही आसक्ति साधकों को बाँधती है तथा साधना के मार्ग में विकट अड़चन बनकर खड़ी हो जाती है, यही आसक्ति सारे अनर्थों की मूल है। जगत् की वस्तुओं के साथ साथ अपने शरीर तक से भी वैराग्य का होना बहुत कठिन और दुर्लभ है। इतना हो चुकने पर साधक को ईश्वर के समीप पहुँचने में विलम्ब नहीं होता। जो व्यक्ति पवित्रता में प्रतिष्ठित है, उसके मन में शान्ति और एकाग्रता रहती है। इस प्रकार उसे इन्द्रिय निरोध के लिए भी शक्ति मिलती है।

(ख) सन्तोष—असन्तोष एक प्रकार का रोग है। यह मन की शान्ति को हरण करता एवं विविध प्रकार की भावी भावनाओं के चक्कर में डालकर चाञ्चल्य तथा निरुत्साह कर देता है। एक चंचल और विक्षिप्त मन वाला व्यक्ति कभी भी ठीक-ठीक ध्यान नहीं कर सकता। बिना ध्यान शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता है। यों वह ईश्वर से सदा दूर ही रहता है सर्वसमर्थ ईश्वर को आत्मनिवेदन कर देने से अपार संतोष आ जाता है। जो संतोष में समाधिष्ठित है, उसे किसी वस्तु की अपेक्षा ही किधर है ? आत्मसमर्पण किया हुआ व्यक्ति दुःखों और सुखों को, सफलताओं और असफलताओं को समान रूप से ही देखता है। वह न तो सफलता को प्राप्त कर प्रसन्न ही होता है और न विफलता के द्वारा झिझकता ही है। वही सभी कार्यों के अन्तर्गत ईश्वरीय शक्ति का अनुभव करता है।

(ग) तप—तपस्या का अर्थ यही है कि शरीर को खूब सुदृढ़ बनाते हुए शारीरिक विचार से ऊपर उठ जावें। तपस्या के अभ्यास से हमें अद्भुत शक्ति मिलती है और हम शान्ति और उत्साह पूर्वक आने वाले सभी क्लेशों और कष्टों को,

रोग और वेदनाओं को सहन करते हुए जा सकते हैं। तप के द्वारा हम देहाध्यास और मन से सम्पर्क को भी त्यागते चले जा सकते हैं तथा उन्हें अपने वशीभूत करने की क्षमता को भी प्राप्त कर सकते हैं। तप के द्वारा साधक सहज ही में मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण कर लेता है। शरीर और इन्द्रियों की दूषित शक्ति को नष्ट कर देता है और अद्भुत छिपी शक्ति की गवेषणा करके धन्य हो लेता है। तप के द्वारा सभी इन्द्रियाँ सूक्ष्म होती हैं और उनकी शक्ति बढ़ती है और ऐसा तपस्वी जन-साधारण की अपेक्षा अधिक समझ-बूझ रखने लगता है और अधिक कार्य-क्षमता से सुधन्य होता है।

(घ) **स्वाध्याय**—हम लोग वही हैं, जैसा कि हमारे विचारों ने हमें बनाया है। हम जो सोचते हैं, वही हो चुकते हैं। जब हम किसी वस्तु की कामना करते हैं और निरन्तर उसी के बारे में सोचते हैं, तो मन का उस वस्तु में निवास हो जाता है। मन का अपना रूप रंग नहीं है। वह जिस प्रकार से चिन्तन करता है उसी प्रकार उस वस्तु का रूपरंग ग्रहण कर लेता है। धर्मशास्त्रों में स्वाध्याय का अर्थ है, अपने को ईश्वरीय विचारों में निमग्न रखना। सन्तों और महात्माओं के जीवन-चरित्रों का पठन-पाठन करने से हम उनके जीवन में ही निवास करने लगते हैं। उनके नित्य निरन्तर चिन्तन के द्वारा हमारा मन तदाकार हो जाता है और स्वाभाविक ही हमारी प्रवृत्तियाँ उन जैसी होने लग जाती हैं। सत्संग की कमी अच्छी पुस्तकों के अध्ययन द्वारा दूर हो जाती हैं।

(ङ) **ईश्वर-प्रणिधान**—हमारा प्रत्येक कार्य भले और बुरे का सम्मिश्रण है। किसी भी कार्य को लीजिए और विचार कीजिए—वह अवश्य ही भले और बुरे का सम्मिश्रण है। जिस

कार्य को हम अच्छा समझते हैं, वह पूर्ण रूपेण अच्छा नहीं है बल्कि उसके विशेषांश अच्छे होते हैं। और थोड़ा ही अंश बुरा रहता है। उसी प्रकार जिस कार्य को हम बुरा कहते हैं, उसका विशेषांश बुरा रहता है और थोड़ा अंश अच्छा रहता है। अर्थात् किसी भी कार्य का पूरा अंश खराब व अच्छा नहीं रहता, कुछ विशेषांशों में ही फर्क पड़ते हैं। इस प्रकार कोई भी कार्य ऐसा नहीं जिसको हम पूर्ण तरह से बुरा कहें या अच्छा कहें। फिर तो प्रत्येक कार्य अच्छा और बुरा, दोनों प्रकार के फल प्रदान करेगा ही। हमारे आज के सुख दुःख पूर्व-जन्मों के सुकर्म और कुकर्मों के परिणाम हैं। और आज जो भी भले बुरे कार्यों को हम कर रहे हैं। उसके लिए भविष्य में दुःखों व सुखों की नीव पड़ रही है। परन्तु हम यों देख जो आये हैं कि प्रत्येक कार्य अच्छे व बुरे फल का प्रदाता है, फिर तो इससे कैसे निष्क्रमण हो? इस बन्धन से छुटकारा तथा मुक्ति को प्राप्त कैसे हो? अहंकार की भावना ही बन्धनों का कारण है। 'अहम्' और "मम" की भावना ही सारे अनर्थों की मूल है। सारे दुःखों की जड़ है। इस अनर्थ की निवृत्ति का प्रमुखतम माध्यम यही है कि ईश्वर को सदा अपने दृष्टिकोण में रखा जाय। हमें ईश्वर का आवास सदा प्रतीत होना चाहिये। हमें ईश्वर की आराधना, वन्दना, अर्चना और सेवा करनी चाहिये। सबकुछ आन्तरिक हृदय से करनी चाहिये। हम जो कुछ करते हैं, सब ईश्वर की सेवा के रूप में करें। उन्हें ही समर्पित करते हुए करें। इस प्रकार की भक्ति और एकनिष्ठा साधक के हृदय को स्वच्छ कर देती हैं तथा ईश्वर के साक्षात्कार में योग देती हैं।

ऋषि पतंजलि के इन नियम-सम्बन्धी पाँच विधियों के अतिरिक्त भी कुछ आचार्यों के मत में दान-आस्तिक्यादि और भी विधियाँ हैं, जो राजयोगी द्वारा अनुपालनीय हैं। दीनों,

दुःखियों को कुछ देना दान कहलाता है। वेद वाक्य में, सत्य में तथा ईश्वर में विश्वास का होना आस्तिक्य कहलाता है। ज्ञान की ओर मानसिक प्रवृत्ति तथा शास्त्रीय अभ्यास का नाम 'ह्' है। मन्त्र के निरन्तर जप को मति कहते हैं। हवन करने का नाम 'हुतम्' है। उपवास विधि को व्रत कहते हैं। ये सब ही राजयोगी के नियम माने जाते हैं।

वैसे तो सच है कि यम-नियम के सतत पालन के बिना किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक प्रगति हो नहीं सकती। ये ही दोनों धार्मिकता के अनुपालन की आधार शिलाएँ हैं। बेईमानी का धर्म मार्ग में कोई स्थान नहीं है। एक निर्दय, स्वार्थी तथा चरित्रहीन व्यक्ति कभी धार्मिकता के क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सकता। चरित्र, दया, सत्यावलम्बन, प्रेम, ईश्वर तथा गुरु में श्रद्धा, शास्त्रीय वाक्यों में विश्वास ये ही धर्मानुसरण के मुख्य पहलू हैं। ये गुण धर्मानुसरण के लिए अत्युपयोगी हैं। इन गुणों के बिना तथा यम-नियम के नित्यानुपालन के बिना धार्मिक प्रगति नहीं हो सकती। यम-नियम के सतत अनुपालन के बिना राजयोग का अभ्यास भयावह होगा तथा यह पतन की ओर भी ले जायगा।

(३) **आसन**— राजयोग की तीसरी सीढ़ी है आसन। मन बहुत ही सूक्ष्म वस्तु है। इसके साथ व्यवहार करना, इसे समझकर नियंत्रण करना तथा इसकी इच्छाओं वासनाओं के अध्ययन करते हुए इसके विचारों को समझना यह कोई सीधा कार्य नहीं है। साधक को इन सबके लिए घंटों ध्यानावस्था में बैठकर अभ्यास करना होगा। जबकि कोई व्यक्ति चल रहा है। अथवा कोई कार्य कर रहा है। वह गहराई से किसी भी विचार को नहीं कर सकता। वह विचारों की सूक्ष्मावस्था की परख नहीं

कर सकता। अतः गहरे विचारों के लिए, मन की निगूढ़ता में गहराई तक बैठने के लिए, साधक को बहुत काल पर्यन्त चिन्तन करना होगा। यह चिन्तन झट से समाप्त होने योग्य नहीं। बल्कि दिन-दो-दिन के अतिरिक्त महीनों और वर्षों तक चिन्तन का क्रम लगना चाहिये। साधक अपने हिलते हुए शरीर से ठीक ठीक ध्यान नहीं कर सकता। सुदृढ़ चिन्तन के लिए शरीर का एकासन में बैठना अनिवार्य है। इसके लिए उचित एक आसन की प्रक्रिया अपेक्षित है। आसन यद्यपि बहुतेरे हैं परन्तु चौरासी उनमें मुख्य माने जाते है। सबसे अच्छा आसन उसे ही मानना चाहिए जिस आसन द्वारा बहुत देर तक आराम से बैठा जा सके और बहुत काल-पर्यन्त ध्यान लगाया जा सके। जबकि कोई व्यक्ति तीन घण्टे पर्यन्त निश्चित आसन पर बैठा रह सके और तनिक भी हिले डुले नहीं तो उसके प्रति आसन की सिद्धि बताई जाती है। आसन पर बैठने में मुख्य बात ध्यान देने योग्य यही है कि मेरूदण्ड सीधा रहे तथा छाती, गर्दन और शरीर भी सुदृढ़ और सीधा रहे।

शरीर को झुकाकर तथा छाती को अन्दर दबाकर किसी के लिए भी अधिक समय तक बैठना बड़ा मुश्किल होगा। झुके हुए शरीर से किन्हीं उच्च विचारों को नहीं कर सकेगा। हमारे शरीर में बहुतसी सूक्ष्म नाड़ियां हैं उनमें कुल ६—नाड़ियां मुख्य होती हैं। तीन पीछे की ओर तथा तीन आगे की ओर। पीछे की ओर बांई तरफ वाली नाड़ी इड़ा,बीच वाली सुषुम्ना तथा दाहिनी वाली पिंगला कहलाती है। इनसे सम्बन्धित आगे सरस्वती, मेधा और लक्ष्मी नाड़ियाँ भी हैं। जो विचारों के प्रवाह चित्त से मस्तिष्क तक और मस्तिष्क से चित्त तक आवागमन करते रहते हैं वे सभी सरस्वती नाड़ी द्वारा होते हैं। झुककर बैठने से नाड़ियों के प्रवाह में रुकावट होती है जिसके कारण शुद्ध

भावना नहीं होती और अनेक प्रकार से व्याधियों का प्रादुर्भाव होता है ।

(४) **प्राणायाम**—इसका झट से लोग 'श्वास-निरोध' के रूप में अर्थ समझ लेते हैं । यह तो ठीक है कि प्राणायाम का अर्थ श्वास के निरोध से ही है, परन्तु 'प्राण' शब्द का अर्थ वैसे बहुत गूढ़ है । आश्चर्यमयी और अदृश्य जो जीवनी-शक्ति है, उसे ही प्राण कहते हैं । 'प्राण' का अर्थ है जीवनी-शक्ति और 'आयाम' का अर्थ है उसका निरोध करना । इस प्रकार 'प्राणायाम' का अभिप्राय है जीवनी-शक्ति का नियंत्रण । प्राणायाम वह कला है जिसके द्वारा उक्त शक्ति के निरोध की विधि बताई जाती है । प्राण साधारणत: श्वास को नहीं कहते हैं, परन्तु यह जीवन-पोषण का आधार है । शक्ति की कहीं भी अभिव्यक्ति हम यदि देखते हैं, वह जीवन के रूप में, मन के रूप में प्राणशक्ति की ही अभिव्यक्ति है। परम-प्राण एक ही है । फिर भी वह विभिन्न रूपों में विभिन्न स्थानों पर अभिव्यक्त होता है। प्रकृति की समग्र शक्तियों का प्राण ही चरम निष्कर्ष है । यह एक सूक्ष्म शक्ति है । अत: किसी भी प्रकार से देखी, तोली, छूई तथा मापी नहीं जा सकती । सबसे सूक्ष्मतम वस्तुओं की माप करने वाली यन्त्रकला भी इसका माप नहीं कर सकती । बाहरी किसी भी साधन से इसका गतिरोध नहीं किया जा सकता । परन्तु इसके गतिरोध की विधि मन के नियंत्रण पर निर्भर है तथा मन की पवित्रता और सूक्ष्मता पर आधारित हैं । प्राण प्रगति भी सभी आश्चर्यमयी शक्तियों का अन्तिम परिणाम है । सृष्टि के पूर्व प्राणशक्ति अदृश्य रूप में और अव्यक्त रूप में मौजूद रहती है । प्राण मन का आधार है। मन विविध कार्य करने के लिये प्राण से शक्ति पाता है। श्वासोच्छ्वास तो प्राण की केवल एक क्रियाविशेष है । सभी स्थूल और सूक्ष्म शक्तियों का प्राण ही आवास है । संसार की सभी शक्तियों और

वेगों का प्राण ही केन्द्र है। सभी गतियाँ—प्राण से ही जन्य हैं। सभी शक्तियों और वेगों का कारण प्राण है। भूतों में सबसे सूक्ष्म आकाश है। इस आकाश में प्राणों के ही स्पन्दन द्वारा सृष्टि उद्भूत होती है। सर्जित प्राणियों में जो प्राण स्थित है वह प्राण शरीर की विविध स्थूल शक्ति में होकर कार्य करता है। यह प्राण ही है जो शरीर का प्रचालन करता है। तथा मन और शरीर से वेग और शक्ति का अभिदान देता है। मन को भी गतिशील करने वाला प्राण ही है। प्राण ही श्वासों का कारण है। फेफड़े में प्राणस्पन्दन के कारण श्वासक्रिया होती है। प्रत्येक श्वास प्राणक्रिया ही है। सभी रोगों में प्राण ही हेतु होता है। प्रत्येक विचार और प्रत्येक कार्य प्राण का ही परिणाम है। प्रत्येक शब्द जो उच्चरित होता है तथा प्रत्येक ध्वनि जो ध्वनित होती है, वह प्राण के द्वारा ही होती है। सूक्ष्म नाड़ियों में गति तथा मन की जो भी शक्तियाँ हैं, सब प्राणों के अभिव्यक्त होने पर ही होती हैं। यह स्थूल शरीर भी प्राण और आकाश का परिणाम है। शरीर के अन्दर जो भी स्थूल पदार्थ हैं वे सब आकाश से प्रकट होते हैं और सभी शक्तियाँ व वेग प्राण से उपलब्द होते हैं। प्राण में बाधा पड़ने से शरीर में रोगों का आगमन होता है। किसी भी अवयव में प्राण का घटना बढ़ना ही रोगों का कारण है। इस शक्ति पर अपना प्रभुत्व होना, इसे नियन्त्रण कर लेना ही तो प्राणायाम का अर्थ है। यह प्राण का विज्ञान है, जो एतद् विषयक जानकारी को देता है।

जबकि साधक ध्यान करता है, उस समय वह यही तो करता है कि प्राण की बिखरी हुई शक्ति को एकत्र करता है। आध्यात्मिकता भी क्या है? केवल प्राण की ही अभिव्यक्ति है। सूक्ष्म इन्द्रियों का सक्रिय होना भी क्या है? प्राणों के स्पन्दन की एक हद तक क्रिया है। हमारी दृष्टि-शक्ति, हमारी श्रवण-शक्ति,

प्राण-शक्ति तथा अन्य शक्तियाँ भी क्या हैं? प्राण के रूप ही तो हैं। जीवन के विविध क्षेत्र भी क्या हैं? प्राण के तद्रूप स्पन्दन की अभिव्यक्ति हैं? प्राणायाम का अर्थ ही होता है, अध्यात्म-वाद की सत्यता। विज्ञान के क्षेत्र में जहाँ कहीं भी किसी ने आविष्कार के रूप में कुछ किया है तो उसने प्राण की शक्ति को रोकने की ही चेष्टा की है। जहाँ कहीं भी शक्ति का अत्यधिक अपव्यय है, वह प्राण का ही कार्य है। इसलिए प्राण के अतिरिक्त शारीरिक और अतिशारीरिक सभी कार्यक्रम का गतिरोध बताया जाता है। बाह्य प्राणायाम के द्वारा विज्ञान का भौतिक-पक्ष बताया जाता है। तथा आन्तरिक प्राणायाम द्वारा उसका आध्यात्मिक पक्ष स्वीकार किया जाता है। प्राण ही मानसिक शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है। और इसका नियंत्रण भी मानसिक विधि से ही होता है। भौतिक विज्ञान के ज्ञान को बाह्य प्राणायाम द्वारा प्राप्त करता है और आध्यात्मिक ज्ञान को आन्तरिक प्राणायाम द्वारा प्राप्त करता है। प्राण मानसिक शक्ति से होकर कार्य करता है और इसे केवल मन द्वारा ही निग्रह किया जा सकता है। बाह्य साधनों द्वारा कभी नहीं। बाह्य स्थूल प्राण शक्ति के निग्रह के लिये जो भी उपाय किया है उसे भौतिक विज्ञान कहते हैं। और जो प्राण मानसिक शक्ति से होकर कार्य करता है उसे निरोध करने की जो विधि हैं उसे प्राणायाम कहते हैं।

मानव-शरीर में जहाँ से प्राण-शक्ति उत्पन्न होकर प्रस्फुटित होती है, वह केन्द्र मूलाधार चक्र कहलाता है। यह स्थान गुदा और मूत्रनली के बीच रहता है। औसत व्यक्तियों में यही केन्द्र मूल केन्द्र के रूप में रहता है। जहाँ से शक्तियाँ बाहर भेजी जाती है। यही कुण्डलिनी शक्ति के भी विकास का केन्द्र है। नाड़ी-तन्तुओं का कारण कुण्डलिनी शक्ति ही है।

और यह इस केन्द्र से चौबीसों घण्टे कार्य करती हैं। मानव-शरीर में यह सबसे प्रमुख केन्द्र है और यही वह केन्द्र है जिस पर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने जरा भी ध्यान अबतक नहीं दिया है। भौतिक चिकित्सक-समुदाय भी इससे विज्ञ नहीं। शरीर के अन्दर असंख्य नाड़ियाँ काम कर रही हैं। उनके अन्दर से प्राण-शक्ति प्रवाहित होती रहती हैं। इन नाड़ियों में चौदह तो मुख्य नाड़ियाँ हैं। इन चौदहों में छः तो सबसे मुख्य नाड़ियाँ हैं। इड़ा, सुषुम्ना और पिंगला पीछे की ओर तथा सरस्वती, मेधा और लक्ष्मी आगे की ओर धावमान होती हैं। ये उन्हीं तीन पीछे वाली नाड़ियों के समानान्तर प्रवाहित होती हैं। ये सब नाड़ियाँ मूलाधार-चक्र से शुरू होती हैं तथा ये ही प्रधान-मार्ग हैं जिनसे होकर प्राण-शक्ति छोटी-छोटी विभिन्न नाड़ियों द्वारा सारे शरीर में स्पन्दित होती हैं। इन सभी नाड़ियों में औसत मनुष्य की सुषुम्ना और मेधा नाड़ी बिलकुल काम नहीं करती हैं जबकि कोई योगाभ्यास करता है तो उसकी सुषुम्ना नाड़ी खुल जाती है और जबकि वह कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करता है तो उसकी मेधा नाड़ी विकसित होने लगती है। इसके पूर्ण विकास के लिए काया, वाचा और मनसा द्वारा लगातार १२ साल तक ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। इड़ा (बायें) और पिंगला (दायें) जो कि मेरूदण्ड के दोनों ओर हैं। सबमें सक्रिय रहता है। सुषुम्ना मेरुदण्ड के बीच से होकर प्रवाहित होती है। सरस्वती और लक्ष्मी नाड़ी यद्यपि सक्रिय रहती हैं परन्तु साधारण कोटि के व्यक्तियों में इसका विकास नहीं होता। योगियों में ही इनका विकास ठीक-ठीक देखा जाता है। सुषुम्ना और मेधा ये दोनों तो सबसे अधिक सूक्ष्म और प्रमुख नाड़ियां हैं। ये दोनों साधारण व्यक्ति में अव्यक्त और सूक्ष्म रूप से ही रहती हैं। जब तक इन दोनों के विषय में हमारा प्रचुर अध्ययन नहीं हो और जब तक हम इन

दोनों पर अधिकार न कायम करलें, हम मन के विचार तथा प्राण पर भी कदापि नियंत्रण नहीं कर सकते और तब तक ईश्वर-साक्षात्कार तथा आध्यात्मिक प्रगति गतिरुद्ध रहेगी। इसलिये प्राणायाम का अर्थ है इड़ा, पिंगला, सरस्वती और मेधा नाड़ी को निरन्तर नियन्त्रित रखना। साथ ही प्राण का प्रवेश यदि सुषुम्ना में होता फिर श्रेष्ठ ही है।

हमारे जीवित शरीर में प्राण का स्थूलतम रूप यह श्वासोच्छ्वास है। श्वासोच्छ्वास से सूक्ष्मतर नाड़ी प्रवाह है। इससे भी सूक्ष्मतर हमारे मन, इच्छायें तथा विचार, प्राण और मन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन और विचार, विचार और नाड़ी प्रवाह और श्वासोच्छ्वास इन सबों में परस्पर सम्बन्ध है। प्राण अपने श्वासों की विधि से साकार होता है, इस साकार रूपी प्राण को अनेक नाम से पुकारते हैं:—प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान। ये नाम उसके विविध कार्य-कलाप के अनुसार होते हैं। हृदय में क्रियमाण होने वाली वायु प्राणवायु कहलाती है। गुदा की ओर जो वायु काम करती है, उसे अपान कहते हैं। नाभी में रहने वाली वायु का नाम समान है। कण्ठ प्रदेश में स्थित वायु का नाम उदान तथा समग्र शरीर में वर्तमान रहने वाली वायु व्यान है। प्राण का कार्य सुरक्षण है। अपान का कार्य त्याग है। समान का कार्य समीकरण है, उदान का कार्य उच्चारण है तथा व्यान का कार्य विभाजन है। प्राणवायु ऊपर और नीचे फेफड़े से नासा पर्यन्त श्वास के रूप में प्रचलित होता है। गुदा और ग्रह्येन्द्रिय के प्रदेश में अपान का गमनागमन रहता है। प्राण और अपान वायु को मिलाना ही प्राणायाम कहलाता है जैसे पहले कहा गया है कि श्वासवायु और नाड़ी संचार में गहरा सम्बन्ध है। इसलिए श्वास पर नियन्त्रण करते हुए साधक नाड़ी-प्रवाह पर भी नियन्त्रण पा लेता है। नाड़ीप्रवाह पर नियन्त्रण

होने से विचारों पर भी नियन्त्रण कर सकता है। इच्छाओं और विचारों पर नियन्त्रण करने पर साधक अपने मन पर आसानी से नियन्त्रण कर सकता है। मन को रोककर प्राण का रोकना आसान है। प्राण के नियन्त्रण के उपरान्त मोक्ष प्राप्ति सुलभ है। इस लिए प्राणायाम-विद्या हमें सिखाती है कि—किस प्रकार प्राण को रोककर मोक्ष-प्राप्ति कर सकता है।

शरीर में श्वास घूमनेवाली इञ्जिन की चक्की की तरह है तथा नाड़ी समूह, इच्छा-शक्ति, विचार, मन, प्राण—ये सब मशीन के अंग के समान हैं। जब कि चक्की घूमने लगती है तो सबके सब इंजिन के सूक्ष्म यंत्र भी परिचालित होने लगते हैं। इसी प्रकार श्वास से हमारे शारीरिक नाना कार्यविधियों का घनिष्ठ सम्पर्क है। प्राण का सबसे व्यक्त रूप तो हम हृदय और फेफड़ों के धड़कन में पाते हैं। यदि यह गति बन्द हो जाय तो शरीर के सब प्रचालन बन्द हो जायेंगे। श्वास के नियंत्रण अथवा नियमन द्वारा शीघ्र ही नाड़ी प्रवाह पर भी नियमन हो जाता है। इसी के माध्यम से हमारे विचारों तथा मन की क्रियात्मकताओं पर भी नियंत्रण होना है। शरीर और मन की शुद्धि के लिये नाड़ी शुद्धि सर्वोत्तम आवश्यक है। प्राणायाम के द्वारा शीघ्र नाड़ी शुद्धि होती है और इसकी शुद्धि के उपरान्त मन की शुद्धि स्वतः ही होने लगती है। मन के शुद्ध होने पर प्राण भी नियंत्रित कर सकता है। इस प्रकार श्वास को रोककर मन और प्राण पर नियंत्रण करने की जो विधियाँ बताई गई हैं उसे प्राणायाम कहते हैं। इसलिये श्वासोच्छ्वास नहीं करने से प्राणायाम नहीं कहलाता, लेकिन जो शक्ति फेफड़े की गति को चलायमान करने का कारण है उस शक्ति का निरोध करना प्राणायाम कहलाता है। इसलिए प्राणायाम का अर्थ श्वास का निरोध नहीं मांसल प्राण निरोध के फलस्वरूप साधक अलौकिक

शक्तियों को प्राप्त करता है। हम लोग पहले कह आये हैं कि प्राण-प्रवाह के किसी अंग पर अधिक और कमी होने से उस अंग पर व्याधि प्रकट होती है। प्राणशक्ति के न्यूनाधिकता के कारण जो व्याधिग्रस्त अंग हैं उन अंगों में से प्राण-प्रवाह को संचारित कर समान सम्पूर्ण शरीर में प्राण प्रवाहित करके स्वस्थ शरीर रखना प्राणायाम कहलाता है। नाड़ी की अशुद्धि तथा मन की अपवित्रता—यह सब मिलकर कुण्डलिनी शक्ति के आरोहण में बाधा करते हैं। इसके विपरीत नाड़ी और मन की शुद्धता उसे सहस्रदल तक आरोहण में सहायता पहुँचाती है। वीर्य-शक्ति शरीर का महान् बल है। यह मानव-शरीर का ओज है और सभी शक्तियों का पुंज है, यथा केन्द्र है। इस शक्ति को यों तरल बनकर बाहर निकलने न देना चाहिये बल्कि इसका पोषण और सुरक्षण करना चाहिये अकालमृत्यु से बचने के फलस्वरूप इसे आध्यात्मिक शक्ति के रूप में प्राप्त करना चाहिए। कामुक विचारों से मन जबकि रिक्त हो जाता है। तब समझिए कि एक बड़े विकट बन्धन से छूट गया। मन, प्राण और वीर्य—इन तीनों का सम्बन्ध अति घनिष्ठ है। स्वतः मन की शुद्धता और निरोध करने से प्राण और वीर्य दोनों निरोधित हो जाते हैं। वैसे ही प्राण नियंत्रण द्वारा मन और वीर्य का निग्रह हो जाता है। इस प्रकार वीर्य को पूर्ण सुरक्षित करने से मन और प्राण अपने ही आप निरोध हो जाते हैं। शुक्र अथवा वीर्य सूक्ष्म रूप से शरीर के सभी अंगों में रहता है। कामुक विचार और क्रियाओं से शुक्र स्थूल रूप धारण करता है। एक पूर्ण ब्रह्मचारी न केवल वीर्यशक्ति को स्थूल होने नहीं देता बल्कि उसे सूक्ष्म रूप से ही ओजस शक्ति में परिवर्तित कर देता है। प्राणायाम के द्वारा वीर्य सुलभ रीति से ओजस शक्ति में परिवर्तित हो जाता है। इसलिये

प्राणायाम का अर्थ यह है कि मन, प्राण और वीर्य—तीनों का नियंत्रण करना।

एक स्वस्थ व्यक्ति २१६०० बार प्रतिदिन श्वासोच्छ्वास लेता है। साधारण श्वास की गति १२ अंगुली दूरी तक जाती है। परन्तु गाते, खाते, चलते तथा सोने की बेला में इसकी गति १६,२० से २४, ३० अंगुली दूरी तक भी जाती है। कठिन कसरत इत्यादि करते हुए तो इसका प्रवाह ९६ अंगुलियों की दूरी तक भी जाता है। जबकि श्वासधारा सामान्य होती है, तो जीवन-आयु अधिक मानी जाती है। परन्तु औसत से अधिक जबकि इसका उद्दाम् चलने लगता है, तो आयु नष्ट होने लगती है। खनिज पदार्थ, सस्यवर्ग एवं पशुयोनि ये सब प्राणतत्त्व, वायु रूप सूक्ष्म तत्त्व, आलात-द्रव्य-तत्त्व एवं गैस विशेष-रूपतत्त्व द्वारा बनी होती है। इन सभी में प्राणवायु की मुख्यता है वैसे साधारणतया जो श्वास हम लेते हैं उनमें २१% प्रतिशत प्राणवायु होती है। एक स्वस्थ युवक के शरीर में नाड़ी की गति ७५ तक होती है, और प्रति धड़कन में लगभग २ औंस का रक्त हृदय से फेफड़े में जाता है। एक स्वस्थ शरीर का संतुलन जितना होता है उसका १/५ भाग उसके रक्त के वजन से संतुलित है। प्रति तीन मिनट में शरीर का सब रक्त हृदय तथा फेफड़े द्वारा शुद्ध होकर शरीर के सभी भागों में प्रवाहित होता रहता है। इस तरह कुल २४ घण्टे में १३,५०० पौण्ड रक्त प्रवाहित होता है। इन सभी कार्यों में फेफड़े का केवल १/६ भाग शक्ति काम में आता है। विशेषकर फेफड़ों के ऊपरी भाग काम में नहीं आते। यह साधारण व्यक्ति में कार्य हीन होकर रहता है। प्राणायाम द्वारा फेफड़े की तथोक्त शक्ति सक्रिय हो जाती है। जबकि फेफड़े अत्यधिक परिमिति में कार्य कर रहे हों, व्यक्ति अलौकिक शक्ति का अनुसंधान कर सकता है तथा सभी

रोगाणुओं का हनन कर सकता है। निरन्तर प्राणायाम में यही खूबी है।

शरीर में सभी शक्तियों की जननी कुण्डलिनी शक्ति है। साधारण मनुष्य में इसका निवास गुदा और गुह्येन्द्रिय के बीच मूलाधार चक्र में है। यही चक्र प्राण प्रवाह का उद्गम स्थान है। शरीर में छः मुख्य चक्र हैं। ये चक्र सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग में हैं। प्रत्येक चक्र में मन की अगाध शक्तियां प्रसुप्त पड़ी हैं। कुण्डलिनी शक्ति के समान कार्य में विघ्न पड़ने से पूर्ण शरीर और स्थितियाँ डँवाडोल हो जाती हैं। यदि कुण्डलिनी शक्ति का पता लगाया जाय और सुरक्षित रूप में एक चक्र से दूसरे चक्र पर ले जाया जाय, तो यह मनुष्य को मुक्ति प्राप्ति करायेगा। इसके विपरीत यदि इसकी परख और परवाह नहीं की जाती है तो यही हमारे बन्धन में हेतु होती है। कुण्डलिनी शक्ति के भिन्न भिन्न चक्रों में आरोहण से साधक में अलौकिक शक्तियाँ आने लगती हैं। इसलिये प्राणायाम का अभिप्राय इस शक्ति और ६ चक्रों पर निरोध कर सहस्रार तक ले जाकर मोक्ष प्राप्ति करना है।

अधिकांश लोग अनियमित रूप से श्वास लेते हैं। एक युवक का श्वास दूसरे किसी महिला व बालक से भिन्न रहता है। वैसे ही दूसरी किसी महिला का श्वास लेना अन्य किसी पुरुष व वृद्ध से भिन्न है। भोजन और जलपान में अनियमित होने से श्वास में भी अनियमितता हो जाती है। भय, चिन्ता, काम, उत्तेजना, रोग, दुःख, विकलता, क्रोध, घृणा इत्यादि—अनियमित श्वास के कारण होते हैं। ये सब प्राण को वैसे ही सीधे प्रभावित नहीं करते। परन्तु किसी न किसी रीति से कुप्रभाव जरूर डालते हैं। ये प्राण में अनियमितता ला देते हैं तथा इसके सहारे नाड़ी प्रवाह में बेखबरी प्रवेश करती है फिर फेफड़ों की चाल बिगड़

चुकती है और जिससे श्वास की नियमितता जाती रहती है। अतः अनियमित श्वास लेना, यह प्राण की बाहरी बाधित क्रिया मानी जाती है। जिसका प्राण बाधित नहीं है, जिसमें नाड़ी प्रवाह ठीक और संयत है। उसमें श्वासों की नियमितता रहेगी। ऐसा व्यक्ति सुन्दर स्वास्थ्य का भागी रहेगा और जीवन भर रोगों से रहित रहेगा। इसलिए नाड़ी केन्द्रों में प्राणों के निरोध से फेफड़ों में शक्ति आती है और श्वास की गतिमयता संयत रूप से चलती है। इसी प्रकार से श्वासों पर नियन्त्रण करके हम नाड़ी प्रवाह और प्राणों पर भी नियन्त्रण कर सकते हैं। क्योंकि दोनों में गहरा सम्बन्ध है और दोनों का व्यवहार भी समान है। अतः प्राण हमें नियमित श्वासों की क्रिया सिखलाता है, श्वासों का गतिरोध सिखलाता है तथा नाड़ी प्रवाह एवं प्राणों पर नियन्त्रण की कला सिखाता है।

प्राणायाम के लिए इन नियमों का पालन करना चाहिये—

प्राणायाम के अभ्यासी को भोजन, स्थान इत्यादि की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। एकान्त, स्वच्छ, और निर्विघ्न स्थान का निर्वाचन जरूरी है। यह न तो अधिक ऊँचा हो और न अधिक नीचा ही रहे। यहाँ पर कंकड़ियाँ न रहें। घास, पानी या बाढ़ का खतरा न रहे। यह स्थान अधिक समूह का भी दौरा न रखता हो न तो यह इतना एकान्त हो कि जहाँ भय या चिन्ता सताती हो। कोई जङ्गल अथवा नदी का किनारा, भीड़ वाला स्थल, झरने के पास वाली जमीन या बहुत ही कोई हवादार स्थान भी नहीं हो। ऐसा वातावरण मन में अशान्ति के लिए हेतु होता है और फिर प्राणायाम में इससे विघ्न आता है। उपरोक्त स्थान के अभाव में यदि सुन्दर कोई हवादार खुला कमरा मिल जाय। जहाँ धुआँ धूल आदि की आपत्ति नहीं हो। जहाँ कीड़े, मकोड़े, मक्खियां का भी आतंक न हो—तो ऐसा स्थल प्राणायाम साधना

के लिए उपयुक्त रहेगा। ध्यान के लिए ऐसा ही स्थल चाहिए। उस कमरे को केवल प्राणायाम और ध्यान के लिए ही रखिये। इसमें सोना बिल्कुल अच्छा नहीं है। विभिन्न रीति की प्रकृति वाले तथा विचार वाले व्यक्तियों को यहां मत आने दीजिये। इसको सदा स्वच्छ, सुन्दर और पवित्र रखिए। सदा स्नान करके एवं स्वच्छ कपड़े पहन कर इसमें प्रवेश कीजिये। इसके अन्दर कभी भी दुष्ट और बुरे विचारों को मत सोचिए। अच्छे महापुरुषों तथा देवी देवताओं की तस्वीरों को इस कमरे में रखिए। प्रातःकाल और सायंकाल यहाँ अगरबत्ती बालिए। सुन्दर खुशबूदार फूलों से इसे सजाकर रखिए। यदि श्रद्धा पूर्वक इन सभी नियमों का पालन किया गया तो निस्सन्देह ही कुछ समय के बाद कमरे का वातावरण दिव्य होगा तथा ध्यान में इससे प्रचुर सहायता मिलेगी। यदि आपका मन विक्षिप्त भी है, तो आप इस प्रकार के पवित्र कमरे के अन्दर प्रवेश करते ही प्रफुल्लित हो उठेंगे और मन पर काफी सुन्दर प्रभाव पड़ेगा। कमरे में एक चौकी रखिये जो २½ फूट चौतर्फा हो और आधा फूट जमीन से ऊँचा हो उसके ऊपर अपना आसन लगाइये। आसन का क्रम यह है: चौकी के ऊपर कुशासन रखिये। इस प्रकार कुश के ऊपर हो सके तो व्याघ्र अथवा मृग का चर्म बिछा दीजिए। चर्म के ऊपर स्वच्छ कोई कपड़ा बिछा दीजिए। यह चाहे रूई का हो, रेशम अथवा ऊन का ही सही। इस पर बैठकर पूर्व या उत्तर की ओर मुख कीजिए। आसन जो आपको सुविधाप्रद प्रतीत हो, उसी पर बैठिए। परन्तु बैठना हमेशा सीधा होना चाहिए। मेरूदण्ड को सीधा रखिए। गुदा को जरा दबा लीजिए; छाती, गर्दन और शिर को एक सीध में रखिए। इससे शरीर का पूरा भार पसलियों पर अवलम्बित रहेगा। छाती को तानकर हमेशा सामने रखिए। ठुड्ढी को सीधा रखते हुए भी

पीछे के संकेत में रखिए। पेट को खाली रखते हुए प्राणायाम करते रहिए। भोजन और प्राणायाम के बीच ३-४ घण्टे का अन्तर होना चाहिए। जबकि शरीर अस्वस्थ दीखता हो तो गुरु की आज्ञानुसार कीजिये। शरीर और मन जबकि थका हुआ हो तब प्राणायाम मत कीजिए। यदि आप शीघ्र उन्नति चाहते हैं तो प्राणायाम का अभ्यास दिन में चार बार अवश्य कीजिए। प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल और अर्धरात्रिकाल—ये ही प्राणायाम के उपयुक्त चार काल हैं। अगर उक्त चार बार नहीं कर सके तो प्रातः तथा सन्ध्याकाल में कीजिये।

आप जो भी भोजन और जलपान करते हैं, उन सभी में सावधानी बरतिए। भोजन स्वच्छ, साधारण तथा शाक-प्रधान होना चाहिए। राजसिक भोजन, जिन्हें आप ठीक-ठीक रीति से पचा नहीं सकते हैं, अवश्य छोड़ दीजिये। जो यह बुरे विचार, बुरी भावनायें तथा कामुकताओं को उत्पन्न करता है। भोजन और पेय, जो भी लिए जायें। वे न तो अधिक उष्णता-जनक हों और न ही अत्यधिक शीतलता-जनक ही, जो भोजन करते हैं, वह अधिक गर्म, ठंढा, तीखा, खारा, खट्टा, नमकीन अथवा मीठा न हो। ये सब प्रकार के भोजन प्राणायाम में विघ्नकर हैं। शुद्ध गाय का दूध, मूंग की दाल, खिचड़ी, चपाती, ताजा फल-फूल तथा सूखे फल—ये सब उचित भोजन हैं। और ये सभी एक साथ प्राणायाम के अभ्यासी को सहायता करते हैं। भोजन और पेय समय, स्थान, जातिपाँति एवं व्यवस्था के अनुसार बदलते रहते हैं। भोजन से पेट को मत लाद लीजिए। आधा पेट भोज्य पदार्थों से भरिए तथा एक चौथाई जल से—फिर तीसरी चौथाई वायु के लिए छोड़ दीजिए। योगाभ्यास करने वालों के लिये इसी प्रकार का भोजन होना चाहिए। यह नियम है कि योगी को कभी भी उपवास नहीं

करना चाहिये। तथा एक ही बार भोजन पर ही नहीं रह जाना चाहिये। यदि ऐसा किया गया तो यह प्राणायाम में बड़ा विघ्न उपस्थित करेगा और अनेक प्रकार के रोगों का भी जनक होगा। इसके विपरीत कोई योगी अथवा प्राणायाम का अभ्यासी भोजन के बिना तीन घण्टे से अधिक यापित न करे। प्राणायाम करने वाले को हल्का और सुस्वादु भोजन प्रत्येक तीन घण्टे पर करना चाहिये। प्राणायाम के अभ्यास से जठराग्नि बढ़ जाती है और भूख भी अधिक लगती है। बढ़ी हुए जठराग्नि को ठीक-ठीक अन्न नहीं मिलने से वह शरीर को ही खाजायेगी। जिसके फलस्वरूप अनेक व्याधियों का प्रादुर्भाव होगा। एक योगी को अथवा प्राणायाम के अभ्यासी को लम्बी यात्रा छोड़ देनी चाहिये। उसे बोझिल मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओं को भी नहीं करना चाहिए। उसे भीड़ में जाना, अधिक मिलना-जुलना, गपशप करना तथा तर्क वितर्क—इन सबों से जरूर बचना चाहिये जन-समूह में जाना, मिलना, यात्रा करना और इसी के साथ साथ प्राणायाम का अभ्यास रखने से रोगों की उत्पत्ति का भय रहता है। अधिक बातूनी होना, बहुत इधर उधर के गप मारना, इनसे मानसिक विक्षेप बढ़ता है। इस प्रकार के विक्षेप से चित्त पर बोझ पड़ता है और साधना में विघ्न होता है इसलिए योगी को हमेशा अपने कार्यभार में उत्तरदायित्व की शपथ निभानी चाहिये और सब काम में नियमित होना चाहिये। जैसे गीता में कहा है:—"अतिभोगी और अल्पभोगी, अतिजागरण करने वाला तथा अल्प ही जागरण करने वाला व्यक्ति योगी नहीं हो सकता।" योगी को सर्वत्र बीच की राह पकड़नी चाहिये। ऐसा ही व्यक्ति उन्नति कर सकता है, किंवा योगमार्ग पर बढ़ता रह सकता है। कोई भी पुरुष व महिला—जो प्राणायाम और योगाभ्यास में रत

हैं—उन्हें काया, वाचा और मनसा ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। यदि नहीं तो यह मार्ग उन्हें पागलपन की ओर ले जायगा। अन्यथा अनेक रोगों में वे उलझे रहेंगे।

देश और समाज के विचारों पर जब हम पहुंचते हैं तो यह कहना उचित ही होगा कि ग्रीष्म ऋतु प्राणायाम के लिए उपयुक्त नहीं। ऐसे स्थलों में शीतऋतु में प्राणायाम के लिये विधान है। शीतोष्ण जलवायु यदि मिल जाये तो सर्वश्रेष्ठ है। इस जलवायु में सदा ही प्राणायाम किया जा सकता है। जलवायु शीतोष्ण ही हो सभी काल में प्राणायाम किया जा सकता है। कहने का अभिप्राय है कि अधिक शीत अथवा अधिक उष्ण प्रदेश प्राणायाम के लिए उचित नहीं कहा जाता।

योग अथवा प्राणायाम में विघ्न:—दुःख, रोग, मानसिक आलस्य, अपने किये हुए कार्य को अश्रद्धा के कारण बीच में छोड़ देना, शरीर का बोझिलपन, मानसिक तमोगुण का प्राधान्य, यश और कीर्ति की अभिलाषा, मिथ्या ज्ञान, एकाग्रता की अप्राप्ति, किसी प्राप्त की हुई अवस्था से गिर जाना और अनियमित श्वासोच्छ्वास का ये ही सब योगी के प्रधान विघ्न हैं।

प्राणायाम विधि:—प्राणायाम की वैसे तीन विधियाँ बताई गई हैं। पूरक, कुम्भक और रेचक—अर्थात् श्वास का खींचना, उसे रोककर रखना तथा फिर छोड़ना। प्राण और अपान का संयोग ही प्राणायाम कहलाता है।

प्राणायाम की पहली तथा सरल समाश्वास-विधि:—जैसे पहिले कहा गया है, आसन पर सीधा बैठिए। दाहिने हाथ के अंगूठे से अपनी नासिका के दाहिने छिद्र को

बन्द करके रहिए। बायें छिद्र से धीरे-धीरे श्वास लेकर फेफड़े को अपने शक्ति अनुसार भर लीजिए। इस प्रकार श्वास को लेते हुए किसी प्रकार की ध्वनि नहीं होनी चाहिये। यहाँ तक कि वह ध्वनि आपके सुनने भर भी न रहे। इसे बिना रोक के फिर अपनी ही अंगुलियों से बांयी नासिका-छिद्र को बन्दकर दाहिनी से सब वायु धीरे धीरे निकाल दीजिए। इस समय भी किसी प्रकार की ध्वनि मत होने दीजिए। इसे धीरे धीरे और सरलता-पूर्वक कीजिए, यहां तक कि यदि एक धागा भी नाक के पास रहे तो नाक के समीप से हिले नहीं। ऐसा कर लेने पर फिर उसी नाक से श्वास लीजिए तथा दाहिने से उसे धीरे-धीरे छोड़िए। इस प्रकार कर लेने पर प्राणायाम की एक क्रिया पूरी हो जाती है। बिना क्रम के तोड़े हुए ही इस प्रकार चार बार यह प्राणायाम कीजिए। यह प्राणायाम प्रातःकाल, दोपहर, सायंकाल तथा अर्धरात्रि इन चार कालों में अवश्य किया जाना चाहिए। इसका अभ्यास ठीक समय पर नित्य नियमित रूप से करना चाहिए। और यह भी ध्यान रहे कि अभ्यास करते समय पेट भरा न हो। यदि कुछ महीनों तक यह अभ्यास अवच्छिन्न रीति से होता रहा हो नाड़ी की शुद्धि प्राप्त हो जाती है। मन और शरीर भी शुद्ध हो जाता है। इस शुद्धता का पता बाहरी मुख की प्रकृति में शान्ति के आभास से, विकसित नेत्र से तथा साधक के मधुर शब्दों से लग जाता है। मुख के ऊपर की रूक्षता नष्ट हो जाती है। यह प्राणायाम शरीर में योग्यता प्रदान करता है और आगे-कठिन प्राणायामों के करने में योग दिलाता है।

प्राणायाम की द्वितीय विधिः— प्राणायाम की पहिली विधि को जब कि आपने उचित मात्रा में उचित रीति से कर लिया है। और इस प्रकार कुछ हद तक आपको नाड़ी की शुद्धि प्राप्त हो गई है, तो आप प्राणायाम की द्वितीय विधि को शुरू

कर सकते हैं। कोई भी प्राणायाम कीजिए। परन्तु सभी में आसन, स्थान, बैठने की पद्धति आदि नियम वैसे ही रहेंगे। स्वच्छ आसन पर बैठते हुए दाहिनी नासा-छिद्र को दाहिने अंगूठे से बन्द कीजिए। सावधानी से और धीरे-धीरे बाईं नासिका द्वारा वायु अन्दर लीजिए। ४ सेकेण्ड में श्वास ले लीजिए। परन्तु शोर तनिक भी न हो। दोनों छिद्रों को बन्द कर लीजिए तथा श्वास को १६ सेकेण्ड के लिए अन्दर रोक रखिए। फिर बायीं नासिका को दाहिने हाथ की दोनों अंगुलियों से दबाकर खींची हुई वायु को ८ सेकेण्ड में धीरे धीरे दाहिने छिद्र से निकाल दीजिए। फिर बाईं नासिका-छिद्र को बन्द करते हुए दाहिने से ४ सेकेण्ड में श्वास खींचिए। १६ सेकेण्ड तक उसे अन्दर रोककर ८ सेकेण्ड में फिर दाहिने छिद्र से उसको निकाल दीजिए। यह प्राणायाम की एक क्रिया पूरी हुई। बिना किसी रुकावट के चार क्रियायें कीजिए। और उपरोक्त बताये समयों पर कुल चार बार इसका अभ्यास कीजिए। अभ्यास नियमित रूप से चलना चाहिये तथा भोजन, पान, शयन इत्यादि में नियमितता बरतनी चाहिए। यदि नहीं तो यह हानिकर सिद्ध होगा और साधक के स्वास्थ्य को चौपट कर देगा। इस प्राणायाम की ऊँची सीढ़ी को पकड़ते हुए साधक को सदा सतर्क रहना चाहिए तथा हो सके तो किसी योग्य गुरु की सहायता से यह सब करना चाहिए। जब कभी आप गलत कदम लेंगे, अनियमित और असावधानी पूर्वक अभ्यास करेंगे, तभी यह अति क्षतिकर सिद्ध होगा। परन्तु, यदि सम्यक् रीतियों का अवलम्बन न किया गया तो भय किसी का भी नहीं।

इस पूरक, कुम्भक और रेचक की विधि को क्रमशः चार, सोलह और आठ सेकेण्ड के हिसाब से कुछ काल पर्यन्त करने के बाद—यदि आपमें प्रसन्नता और उत्साह की अनुभूति होती

है तो समय को बढ़ा सकते हैं। आठ सेकेण्ड पूरक कीजिए, बत्तीस सेकेण्ड तक कुम्भक कीजिए, फिर सोलह सेकेण्ड पर्यन्त रेचक कीजिए। इस प्रकार धीरे-धीरे तथा अनायास से समय को बढ़ाइये। जबकि यही प्रणायाम १२ : ४८ : २४ के अनुपात में आ जाता है, तो इसे ही सामान्य श्रेणी का प्राणायाम कहते हैं। जबकि यही २४ : ९६ : ४८ सेकेण्ड के अनुपात से किया जाता है, तो यही मध्यम श्रेणी का प्राणायाम कहलाता है। और यही प्राणायाम जबकि ३६ : १४४ : ७२ सेकेण्ड के अनुपात से किया जाता है तो श्रेष्ठ कोटि का प्राणायाम कहलाता है। सामान्य कोटि के प्राणायाम काल में शारीरिक मल दूर होते हैं। इसके चिह्न स्वरूप आप अपने शरीर के ऊपर स्वेदकण प्रचुर मात्रा में देखेंगे। मध्यम श्रेणी के प्राणायाम से आपके शरीर में एक कम्पन की अनुभूति होगी और श्रेष्ठ कोटि के प्राणायाम-काल में एक प्रकार का हल्कापन तथा आनन्द की प्रतीति होगी। इस प्राणायाम में निपुणता प्राप्त कर लेने पर साधक अपने फेफड़े, मन और प्राणों पर खूब नियंत्रण पा चुकता है। इसके नियंत्रण के साथ ही कुण्डलिनी शक्ति भी सरलता से तथा सतर्कता से ऊपर सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर उठ जाती है।

प्राणायाम की तीसरी विधिः—किसी सीधे आसन पर बैठ जाइए। दाहिने नासिक-छिद्र को दाहिने अंगूठे से दबा लीजिए और बाएँ नासिका छिद्र से धीरे धीरे सरलतापूर्वक श्वास खींचिए। इस प्रकार ४ सेकेण्ड तक श्वास खींचिए। परन्तु अन्दर श्वास को मत रोकिए सीधे बाहर आने दीजिए। धीरे धीरे और सावधानी से ८ सेकेण्ड में दाहिने नासिका-छिद्र से सब श्वास निकाल लीजिए। फिर बाहर आए हुए श्वास को १६ सेकेण्ड तक रोक लीजिए। मतलब कि बाहर अथवा भीतर, किसी भी ओर श्वास की गति न जाने दीजिए। फिर बायें

नासिका छिद्र को अपने दाहिने हाथ की अनामिका तथा बीच वाली ऊँगली से दबा लीजिए और दाहिनी ओर से ४ सेकेण्ड में श्वास लीजिए और फिर उसे दबाकर ८ सेकेण्ड में श्वास को बाईं ओर से निकाल दीजिए। तथा १६ सेकेण्ड तक श्वास को बाहर ही रोक लीजिए। यह एक प्राणायाम बिना विराम के ऐसे ही चार प्राणायाम कीजिए। उपरोक्त कालों में बताई विधि के अनुसार चार बार इसका अभ्यास कीजिए।

जबकि आप चार सेकेण्ड के पूरक, आठ सेकेण्ड के रेचक तथा सोलह सेकेण्ड के निरोधक प्राणायाम में प्रवीण हो चुके हैं, और इस प्रकार करने में यदि आपको कठिनाई मालूम नहीं होती है तो फिर ऊंची सीढ़ी पर आइए। समय को बढ़ाकर आठ सेकेण्ड पूरक के लिए, सोलह सेकेण्ड रेचक के लिए तथा बत्तीस सेकेण्ड निरोध के लिए समय दीजिए। जबकि यह प्राणायाण १२ : २४ : ४८ के अनुपात से चलता है तो यह सामान्य श्रेणी का प्राणायाम कहलाता है। जब यही २४ : ४८ : ९६ के अनुपात से चलता है तो यह मध्यम-श्रेणी का प्राणायाम कहलाता है और जब कि यह ३६ : ७२ : १४४ के अनुपात तक पहुँचता है तब उत्तम श्रेणी के प्राणायाम में परिगणित होता है।

द्वितीय श्रेणी के प्राणायाम में श्वास को अन्दर रोका जाता है और तृतीय में श्वास को बाहर रोका जाता है। ये प्राणायाम यद्यपि अधिक हानिकर नहीं हैं, फिर भी किसी योग्य-गुरु की सन्निधि में इसे किया जाय तो अच्छा है। एक, दो या एक, तीन-संख्यक प्राणायाम क्रमशः करना चाहिए। पहिले प्रथम संख्या वाले प्राणायाम को कीजिए, फिर द्वितीय को या तृतीय को शुरू कीजिए, यदि कठिनाई सधती जाए।

प्राणायाम की चतुर्थ विधिः—यह प्राणायाम पहिली विधि के प्राणायाम से सम्बन्ध रखता है। मतलब कि जो

द्वितीय और तृतीय श्रेणी वाले प्राणायाम को करने में हिचकते हैं, वे उन्हें न करके चतुर्थ विधि को कर सकते हैं। सीधा बैठ जाइए। दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिनी नासिका के छिद्र को बन्द कीजिए और सतर्कतापूर्वक धीरे-धीरे बायें छिद्र से जितनी देर संभव हो सके श्वास लेते जाइए। फिर छिद्रों को बन्द कर लीजिए और जितनी देर हो सके, श्वास को अन्दर ही रोककर रखिए। फिर बायें छिद्र को अपने दाहिने हाथ की अंगुली से बन्द करके दाहिने छिद्र से जितना धीरे हो सके श्वासों को छोड़िए। सब श्वासों को बाहर निकालकर रोक लीजिए और जितनी देर हो सके बाहर ही रोककर रखिए, फिर दाहिने छिद्र से श्वास को अन्दर ले जाइए। अन्दर जितनी देर हो सके, श्वास को रोककर रखिए तथा फिर बायीं नासिका से उन्हें निकाल दीजिए, फिर जितनी देर हो सके श्वास लिए बिना ही रहिए। यह प्राणायाम एक की संख्या में पूर्ण हुआ, इस प्रकार चारबार इसको लगातार प्राणायाम करना चाहिये। प्रतिदिन चारबार कीजिए।

इस प्राणायाम में सफलता निर्भर रहती है, श्वास को अधिक समय तक भीतर और बाहर रोकने पर,जितनी देर श्वास को रोकने का सामर्थ्य होगा, उतनी ही सफलता इसमें मिलेगी। इसमें अन्दर और बाहर कितनी देर श्वासों को रोका जाए, इसका कोई नियम नहीं। यदि अधिक देर तक अन्दर और बाहर रोकने का सामर्थ्य हो तथा धीरे-धीरे श्वासोच्छ्वास कर सके तो शीघ्र सफलता प्राप्त कर सकता है। इस प्राणायाम में अधिक खतरा नहीं रहता है। कोई बुद्धिमान स्त्री व पुरुष जरा सावधानी पूर्वक पहले बताये हुए योग विषयक नियमों को पालन करते हुए लाभ उठा सकता है। यह प्राणायाम यदि कुछ समय तक नित्य नियमित रूप से किया जाय तो नाड़ी, शरीर तथा मन को शुद्धि

लाता है। यह शुद्धि कुण्डलिनी शक्ति के आरोहण में सहायता करती तथा सहस्रार-शक्ति तक पहुँचने पर समाधि प्राप्ति कर सकता है।

प्राणायाम की पांचवीं विधिः—सीधे बैठकर दोनों नासा-पुटों से श्वास लीजिए। ठुड्ढी को छाती की ओर लटकाकर कंठप्रदेश में संकोच ले आइए। और वायु को ऊपर लाते हुए नाभी के नीचे पेट के स्थान को रीढ़ की तरफ दबाकर उर्ध्वमार्ग से लेते जाइए। श्वास को कंठ और हृदय के बीच में रोक लीजिए। इस प्रकार जितनी देर हो सके वायु को रोककर रखिए, फिर दाहिने हाथ की बीच वाली दोनों अंगुलियों से बायीं नासिका को बन्द करते हुए दाहिनी से सब श्वासों को निकाल दीजिए। इस प्रकार पाँच मिनट तक लगातार कीजिये। फिर तदनुकूल ही बायीं-नासिका पुट से पाँच मिनट तक कीजिये। पाँच मिनट तक बाँयीं के द्वारा तथा पाँच मिनट तक दाहिने के द्वारा यों निकालते हुए यदि प्रसन्नता आती हुई प्रतीत हो तो इसमें एक-एक मिनट बढ़ाते हुए आधे घण्टे तक कीजिये यह प्राणायाम एक घण्टा पर्यन्त किया जा सकता है। अर्थात् आधा घण्टा तक दाहिनी पुट से तथा उसी अवधि तक बायीं पुट से श्वास के निकालने की विधि जारी रखेंगे।

इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से साधक अपने प्रमाद और तन्द्रा को दूर खदेड़ सकता है। कफ के रुकाव को कंठ से दूर कर सकता है। इस प्राणायाम के प्रभाव से साधक अपने असाध्य रोगों को दूर भगा सकता है और मन को फुर्तीला कर सकता है। बहुत काल तक इस अभ्यास को करके साधक अपने वीर्य को सुखा सकता है तथा स्वप्न दोषों से बचते हुए, शर्दी गर्मी तथा मस्तिष्क जन्य रोगों से भी मुक्त हो सकता है।

दीर्घकाल पर्यन्त इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास द्वारा संक्रामक रोगों का तथा निरन्तर के रोगों का भी ध्वंस हो सकता है।

प्राणायाम की छटवीं विधिः—सीधे बैठ जाइए और मुंह खोलकर जितना श्वास ले सकें श्वास लीजिए। फेफड़े और पेट को श्वास से भर कर मुख बन्द कीजिये, उसे अन्दर ही रोक लीजिए, जितनी देर हो सके फिर दोनों नासिका-पुटों द्वारा उन्हें धीरे-धीरे बाहर कर दीजिए। यह अभ्यास ४ बार तक कीजिये जब आप शरीर को बहुत अधिक संतप्त और शुष्क अनुभव करने लगते हैं तब अपने शरीर को शीतल करने के लिए इस विधि को आवश्यकतानुसार बढ़ाईये। इस प्राणायाम से शरीर और मस्तिष्क केन्द्र-स्थित उष्णता हट जाती है, साधारण बुखार भी दूर हो जाता है। मामूली किसी विष का प्रभाव भी हो तो दूर हो जाता है। क्योंकि यह प्राणायाम शीतलता प्रदान करता है। इसलिए इसे ठंढे प्रदेश में नहीं करना चाहिए। जहाँ की जलवायु में नमी और शीतलता हो, वहाँ इसका अभ्यास अच्छा नहीं है। यदि किया गया तो जरूर ही ठंढक पकड़ लेगी। कहने का अभिप्राय, कि यह प्राणायाम उष्ण प्रदेश और उष्ण स्थलों में ही करने के लिए है।

प्राणायाम महीनों और वर्षों भर करते रहना चाहिए। बिना किसी विच्छेद के ही करते जाना चाहिए। जबकि अभ्यास नियमित रूप से तथा अनवरत गति से किया गया तो समुचित लाभ का जनक होगा। योग की सभी बतायी विधियों के अनुसार यदि यह किया गया तो नाड़ी शुद्धि, शारीरिक शुद्धि, और मनः शुद्धि का जनक होता है। इसकी शुद्धि के फलस्वरूप साधक फेफड़ों पर, नाड़ी-तन्तुओं पर, मन और प्राण पर नियंत्रण प्राप्त करता है। इस नियंत्रण के आ जाने से साधक बड़ी सरलता से कुण्डलिनी शक्ति को नीचे मूलाधार से उठाकर सहस्रार तक

पहुँचा कर समाधि और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसका ठीक-ठीक अभ्यास यदि किया जाय तो अनेक न जाने वाले रोग भी चले जाते हैं। बड़े-बड़े संक्रामक रोगों का ध्वंस हो जाता है। शरीर में रहने वाली पीड़ा, जिसका उपचार डॉक्टरों द्वारा कठिन होता है, इसके अभ्यास से जाता रहता है। प्राणायाम का मुख्य ध्येय है प्राण के ऊपर नियंत्रण को पाना, और मन को वश में लाना। तथा कुण्डलिनी-शक्ति को सुरक्षित रीति से मूलाधार से उठाकर सुषुम्ना द्वारा सहस्रार पर्यन्त पहुँचा देना। जब कि कुण्डलिनी का सुषुम्ना में प्रवेश होता है। मन शान्त हो जाता है। फिर प्रकृति की सभी वस्तुयें एक के बाद एक बदलने लगती हैं। मन की छिपी हुई शक्तियाँ क्रियमाण होने लगती हैं, और ज्ञान की अखिल मंजूषा उसके सामने खुलकर पड़ चुकती है। ऐसा साधक अनन्त ज्ञान को प्राप्त करता है। वह इन्द्रियों के परे, तीनों गुणों के परे, बुद्धि और तर्क के परे जा सकता है। ऐसे ही साधक में साधना फलवती होती है।

प्रत्याहार:— प्राणायाम के अध्याय को समाप्त कर अब हम प्रत्याहार के विषय को जानना चाहेंगे। मन को इच्छानुसार एक स्थान पर रखना या हटाना प्रत्याहार कहलाता है। एकता ही शक्ति है जबकि तन्तुओं की छोटी छोटी इकाइयों को एक साथ कर दिया जाता है तो वे मिलकर एक रज्जु का रूप ले लेते हैं। और इससे हाथी भी बाँधा जा सकता है। इन्द्रियों और तज्जन्य भोगों में चिपके रहने से मन की शक्तियाँ दुर्बल और क्षीण हो जाती हैं। वे बिखरकर निर्बल पड़ जाती हैं। पाँचों इन्द्रियों और उनके विषय—मन को सदा खींच कर बाहर ले जाते हैं, तथा खूब भटकाते हैं। मन इस प्रकार बिल्कुल ही बहिर्मुख हो जाता है और एकाकार होकर रहने की शक्ति को

खो देता है। अब इस फिरने वाले मन तथा इन्द्रियों को अवश्य ही रोकना चाहिए। उन्हें ठीक-ठीक नियंत्रण में लाकर रखना चाहिए। जब कि हम अपने मन को किसी भी वस्तु और इन्द्रिय में लगा सकें और वहाँ से इच्छानुसार हटा भी सकें तो वही प्रत्याहार कहलाता है। साधक जबकि इस स्थिति को प्राप्त करता है अर्थात् प्रत्याहार में निपुणता पा लेता है तो वह बड़ा ही चरित्रवान् हो जाता है। तथा वह ठोस प्रगति प्राप्त करता है।

स्पष्टीकरणः—ईश्वर निराकार और निर्गुण है, अनन्त और परिव्याप्त है, सूक्ष्म और अणुओं का भी परमाणु है, इस प्रकार के सूक्ष्म वस्तु को जानना साधारण प्राणियों के लिए बड़ा कष्टकर है। कोई-कोई ही इस निराकार अवस्था को जान सकता है। जिस साधक ने अपने इन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त किया है तथा मन की शुद्धता और एकाग्रता को प्राप्त किया है वही इस सूक्ष्म तत्त्व को ठीक-ठीक समझ सकता है। नाम, रूप और विचार ये तीनों साथ ही साथ चलते हैं। प्रत्येक विचार, चिन्तन और इच्छा के रूप होते हैं। किसी वस्तु के विषय में ज्ञान तब-तक नहीं हो सकता जबतक कि उसका रूप हमारे मानस में प्रतिबिम्बित न हो लेता हो। ईश्वर की निराकार कला का परिज्ञान केवल निर्विकल्प समाधि में ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी हम सोचते और करते हैं, सबका मानसिक सूक्ष्म रूप होता है। इसलिए ईश्वर के विषय में कुछ सोचने और करने के लिए हमें सूक्ष्म व स्थूल प्रतीक की आवश्यकता पड़ती है। अपनी अपनी जाति, व्यवस्था व रुचि के अनुकूल इस प्रतीक में भेद विभेद हो सकता है।

मन और इन्द्रिय को पूरे-पूरे नियंत्रण में लाने के लिए—अर्थात् मन को एकमुखी करने के लिये कोई-कोई तो मन्त्र की सहायता लेते हैं। मंत्र किसी देव-देवी का नाम होता है वह देव-

देवी हमारे निर्वाचन पर निर्भर है। जिसको हम सबसे अधिक प्यार करते हैं। कोई तो ओंकार को ही चुन लेते हैं और ईश्वर के सभी गुणों को इसी में आरोपित कर लेते हैं। 'ॐ' को शब्दब्रह्म भी कहा गया है, अर्थात् ईश्वर यहाँ शब्द के रूप में अभिव्यक्त है। जब कि कोई मन्त्र का उच्चारण करता है तो उसका अर्थ और इष्ट देवता का चिन्तन हृदय केन्द्र पर, मस्तिष्क पर या किसी अन्य केन्द्र पर चिन्तन करता है। इसमें सन्देह नहीं कि मन अनन्त स्थानों में घूमता फिरता है, इसलिए बहुत से छिपे हुए विचारों का समुद्भव मानस पर होता रहता है। हमें उन पर विचार-विमर्श करते रहना चाहिये तथा कौन हेय और उपादेय है। इसके अनुसार उन्हें काँटते छाँटते हुए अपनाते रहना चाहिए। मंत्र के निरन्तर जप के द्वारा एकाग्रता लाभ करते हुए मन की वृत्तियों को समेटने का यत्न करना चाहिए। यह अभ्यास जबकि बहुत दिनों तक चलेगा—और नियमितता अध्यवसायिता बरती जाएगी, फिर मन की भ्रामक प्रवृत्ति स्थगित होगी, एवं एकाग्रता-लाभ होगा। जैसे कि हमारा मन अभ्यास में चलता रहता है तो धीरे धीरे विचारों में कमी आती जाती है और प्रत्याहार में सफलता प्राप्त होने लगती है।

और भी कोई पूर्ण विकसित कमल का हृदय में ध्यान करते हैं, जिनका प्रकाश चारों ओर फैल रहा है तथा जिनके अष्टदल सर्वत्र शोभा छिटका रहे हैं। वे हृदय कमल के पुञ्ज का ध्यान करते हैं और उसी पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास करते हैं। वे ईश्वर को प्रकाश के रूप में सोचते हैं और इसी सोचने के सहारे वे बाहरी इन्द्रिय-जन्य वस्तुओं से मन को एकाग्र करते हैं। जबकि यह अभ्यास बहुत देर तक चलाया जाता है, तब मन की चंचलता दूर हो जाती है तथा मन को कहीं से उठाकर कहीं लगा देने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार

की शक्ति अपने में प्राप्त हो जाने पर साधक अपने मन का स्वामी हो जाता है। और वह अपने मन को जैसे चाहता है जहाँ-कहीं भी नियुक्त कर देता है।

बहुत से लोग सूक्ष्म उपकरण के प्रति चित्त को मोड़ नहीं सकते हैं। उनके लिए बाहरी स्थूल वस्तु रखी जाती है। जिस वस्तु को हम चाहते हैं। अथवा प्यार करते हैं, उस पर मन बड़ी सरलता से एकाग्र हो जाता है वे सोचते हैं कि ईश्वर साकार है और वे जिस रूप में उनका पूजन कर रहे हैं। ईश्वर उसी रूप में व्यक्त है। वे उसी प्रतीक में ईश्वर के सभी गुणों को आरोपित करते जाते हैं। वे तदाकार ध्यान की विधि अपने हृदय में प्रस्थापित करते हैं। और इस प्रकार मन की एकाग्रता उन्हें प्राप्त होती है।

अन्तर-हृदय में इस प्रकार के ध्यान को बहुतेरे साधक कठिन समझते हैं। अन्दर ही अन्दर इस प्रकार के ध्यान द्वारा तथा निरन्तर अभ्यास द्वारा प्रत्याहार में सफलता प्राप्त होती है। लेकिन जो इस प्रकार ध्यान करने में असमर्थ हैं वे बाहरी प्रतीकों का सहारा लेते हैं तथा देव-देवियों के चित्र बाहर रखकर पूजार्चन इत्यादि करते हैं। वे अवतारियों के तथा सन्त महात्माओं के भी चित्र प्रस्थापित रखते हैं और उन्हीं पर अपने मन को केन्द्रित करते हैं। बहुत से साधक मोमबत्ती अथवा प्रकाश स्तम्भ इत्यादि का भी सहारा लेते हैं, और उन्हीं पर मनको ठहराते हैं। बाहर किसी बिन्दु पर भी मन को एकाग्र करना सहज प्रतीत होता है। जबकि मन शान्त और स्थिर हो जाता है। अर्थात् जबकि साधक बाहरी वस्तु पर मन को टिका देता है, तो उसे चाहिये कि धीरे-धीरे अन्दर की ओर भी प्रवेश पाने की चेष्टा करे तथा आन्तरिक एकाग्रता को भी प्राप्त करने की चेष्ठा करे। इस प्रकार अन्तर्मुख प्रवृत्तियों द्वारा

मन को एकाग्र करने के विविध तरीके हैं। परन्तु जिस विधि को हम ग्रहण करें, उसे अन्त तक निभायें और उसके लिए निरन्तर प्रयत्न करें। बिना निरन्तर प्रयत्न के मन को रोकना कठिन साधना है। मन सूक्ष्म वस्तु है, वैसे ही विचार भी बहुत सूक्ष्म हैं। मन और मन के विचारों को ठीक-ठीक समझने के लिये हमें निरन्तर अभ्यास की जरूरत रहेगी और कार्य में एक गतिविधि की आवश्यकता रहेगी। बहुत ही परिश्रम के साथ तथा अध्यवसाय के साथ महीनों ही नहीं अनेक वर्षों साधना करनी पड़ेगी।

(६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधिः—

प्रत्याहार के उपरान्त धारणा आती है। इसमें हमने कहा है कि इच्छानुसार मन को एक स्थान पर टिकाना पड़ता है, और इसी प्रकार मन को एकाग्र करते हुए एक स्थान से एक बिन्दु पर १२ सेकेंड तक स्थिर रखने से धारणा हो जाती है। जबकि धारणा में सफलता मिल जाती है तो मन उस विंदु में २ मिनट और २४ सेकेंड तक ठिठककर रह जाने से उस अवस्था का नाम ध्यान कहलाता है। एकाग्रता की यही अनवच्छिन्न अवस्था यदि २८ मिनट और ४८ सेकेण्ड तक निश्चित रहने से तो यह समाधि की अवस्था होती है। समाधि सर्वोच्च स्थिति है। ब्रह्म-ज्ञान इसी अवस्था पर पहुँचने के उपरान्त होता है, इससे पहिले नहीं। समाधि में आरूढ़ हो चुकने पर व्यक्ति देश, काल और व्यवस्था से अतीत हो चुकता है। तीनो गुणों से अतीत हो चुकता है और मोक्ष की परमावस्था को प्राप्त कर चुकता है। प्राणायाम के द्वारा शरीर और नाड़ियों के मल दूर कर दिए जाते हैं। प्रत्याहार के द्वारा चाञ्चल्य बन्धन और आसक्ति का निराकरण हो चुकता है। धारणा और ध्यान के द्वारा मन के मल दूर होते हैं। तथा

समाधि के द्वारा आत्मज्ञान परिपक्व हो जाता है और साधक सफल-जीवन का भागी होता है।

समाधि दो प्राकर की है—सविकल्प और निर्विकल्प—अथवा सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात।

सम्प्रज्ञात अथवा सविकल्प समाधिः—यह चार प्रकार की है सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार।

१ **सवितर्क समाधिः**—उसे कहते हैं जबकि साधक किसी प्रतीक वस्तु पर बारम्बार ध्यान करता है। सब कुछ भूलते ही निरन्तर इसी में जमकर रहने की चेष्टा का नाम सवितर्क समाधि है।

२ **निर्वितर्क समाधिः**—जब कि मनुष्य ध्यान के द्वारा देश और काल से पंचभूतों के निष्कासन की चेष्टा करता है तो इसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं। यह समाधि पहिले वाली समाधि से एक उच्चतर सीढ़ी है।

३ **सविचार समाधिः**—इस समाधि में पंचभूतों की पाँच तन्मात्रायें हीं ध्यान का विषय बनती हैं। इनके अतिरिक्त वस्तु का निराकरण करता हुआ साधक बारम्बार इन्हीं सूक्ष्म तन्मात्राओं पर ध्यान करता है। यह समाधि भी पूर्वोक्त समाधि की तरह सूक्ष्म है। बल्कि सूक्ष्मतर है। इसलिये पहिले की अपेक्षा इसमें एक क़दम और प्रगतिशील होना माना जाता है।

४ **निर्विचार समाधिः**—जबकि साधक देश और काल का परिज्ञान कर लेता है, फिर तन्मात्राओं के निज स्वरूप पर लगातार ध्यान करेगा और मन को तन्मात्राओं में लीन करके रखना ही उस अवस्था को निर्विचार समाधि कहते हैं। इस समाधि में ध्यान का विषय सविचार समाधि की अपेक्षा सूक्ष्म और

गहन है, इसलिये तथोक्त समाधि की अपेक्षा इसे एक कदम और प्रगतिशील होना मानते हैं।

निर्विकल्प अथवा असंप्रज्ञात समाधिः—अन्ततः हम असम्प्रज्ञात अथवा निर्विकल्प समाधि पर आते हैं। जबकि साधक निराकार ईश्वर के ध्यान में बिल्कुल निमग्न हो जाता है। तभी निर्विकल्प समाधि की अवस्था बतलाई जाती है। यही अन्तिम और उच्चतम कोटि की समाधि कही गई है। इसकी प्राप्ति कर लेने पर साधक मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस समाधि को बहु नामों से जानते हैं—निर्विकल्प समाधि, असंप्रज्ञात समाधि और निर्वाण इत्यादि। इस समाधि की अवस्था अद्-भुत ही होती है। इसका चिन्तन और अनुमान भी साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता। जब शरीर और नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं, और मन तमाम दूषणों से दूर हो चुकता है। सभी पाप, ताप और इच्छाओं का निराकरण हो चुकता है तभी साधक इस उच्च कोटि की समाधि को प्राप्त करता है। इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की भावना मिट जाती है। इसमें शरीर का मान तथा अहंकार की प्रतीति नहीं रहती। बुद्धि, मन और इन्द्रियों का अस्तित्व शून्य सा रहता है। परमात्मा में मन और चित्त की सत्ता लीन हो जाती है। श्वासों की गतिविधि स्वतः रूक जाती है और हृदय का स्पन्दन भी बन्द हो जाता है। एक बार इस समाधि को प्राप्त कर साधक के लिए कुछ और प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता है। ऐसे सिद्ध-पुरुष के लिए किसी इच्छा, आकांक्षा व कामना की पूर्ति के लिए तरस नहीं रह जाती है। वे इन सब विषयों के परे हो जाते हैं। इस अवस्था के विव-रण में वाणी समर्थ नहीं होती क्योंकि मन-बुद्धि और अहंकार वहां नहीं पहुंच पाते। केवल अनुभूतियों के द्वारा इस स्थिति को जाना जा सकता है।

एक बार इस अवस्था में निमग्न होकर मनुष्य अगाध आनन्द की प्राप्ति करता है। ऐसे व्यक्ति के लिए भय नहीं। चिन्ता नहीं, दुःख और शोक भी नहीं रह जाते। एक ही आत्मा सर्वत्र गोचर होने लगती है और उसी में तन्मय होकर पुरुष कृत-कृत्य हो जाता है। तथा द्वंद्वों की प्रतीति से विमुख हो चुकता है। ऐसा व्यक्ति देश, काल और व्यवस्था के सभी विचारों से मुक्त हो जाता है। वह तीनों गुणों तथा जन्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है। सत्त्व, रज और तम का कोई प्रभाव उसके मन पर नहीं रहता। एक मूर्ख भी इस अवस्था को एक बार प्राप्त करने से पूर्ण ज्ञान प्राप्ति करके आता है। इसी अवस्था की प्राप्ति मानव-जीवन चरम का लक्ष्य है।

इस समाधि की अवस्था में पहुँचकर साधारण जीव समाधि से उतरकर नीची स्थिति में नहीं आता है। वह २१ दिनों तक समाधि की अवस्था में रहता हुआ जीवन के झंझटों से मुक्त हो जाता है। फिर भी बहुतेरे ऐसे सन्त, महात्मा, ज्ञानी और अवतारी पुरुष हैं। जो इसकी प्राप्ति करके भी भगवान् की प्रेरणा से संसार को दिव्य सन्देश सुनाने के लिए, यहाँ के संकटों से परित्रणार्थ मार्ग प्रदर्शन के लिये तथा हम अपुनीत कीट पतंग स्वस्थ जीवन यापन करने वालों में दैवी भावनाओं के संचार करने के लिए समाधि से नीचे उतर कर आते हैं। वे शुद्ध अहंकार के संवल को रखकर मानव सेवार्थ जीवन व्यतीत करते हैं। वे अपना संदेश देते हैं, मोक्ष का संदेश सुनाते हैं तथा स्वेच्छा से जब कभी भी निर्विकल्प समाधि में आया जाया करते हैं। इन्हें ही जीवन मुक्त कहते हैं। वास्तव में ये धन्य हैं.........चिर-धन्य हैं.........सतत-धन्य हैं।

ॐ तत्सत् !

MASTER PIECES ON YOGA, VEDANTA, MIND-CONTROL & BRAHMACHARYA

BY: SWAMI NARAYANANANDA, *Rishikesh*-HIMALAYAS-INDIA

Rare gems of truth for worth while living !! The BOOKS that solve the riddle of LIFE-HERE and HEREAFTER and help YOU in leading a Pure, Full, Happy and Healthy Life.

Everybody aspires after a long life of peace, power and happiness but very few know how to get it. The Saint, after having lived for about 28 years, a life of seclusion, self-discipline, mind-control and coming face to face with REALITY, has just REVEALED to us His rare experiences for the welfare of the suffering humanity. These wonderful BOOKS deal with the most vital and intricate subjects dear to MAN. They really REVEAL the Mysteries of LIFE — The tremendous Hidden Power with every being—How to harness It—How to make use of It for Happiness, etc., — Character - Building — The Secrets of mind, Its multifarious functions and control—Ideal Life—How to lead it — the SECRETS of different YOGAS and VEDANTA, etc.

All the books are written in an easy-to-read style and have inspired and helped great research scholars and genuine spiritual aspirants beyond their expectation. Leading papers and magazines of the East and the West have paid glorious tributes to all these books. The BOOKS are purely non-sectarian, absolutely practical and they embrace all the creeds and both the sexes.

WORKS OF SWAMI NARAYANANANDA

	Inland Rs.	Foreign Shs.	Foreign $
1. The Secrets of Mind-Control ... *(A Master-Piece on the Subject)*	6-0-0	12	2
2. The Way to Peace, Power and Long Life ... (Brahmacharya)	2-8-0	5	·75 cents
3. The Primal Power in Man or the Kundalini Shakti ...	4-0-0	8	1.25
4. The Ideal Life and Moksha (Freedom) ...	3-8-0	7	1
5. Revelation	4-0-0	8	1.25
6. The Mysteries of Man, Mind and Mind-functions ...	12-0-0	24	3.25
JUST OUT !			cents
7. The Gist of Religions ...	2-0-0	5	·75
8. Caste, Its Origin, Growth & Decay ...	0-8-0	1 d.	·15
9. God and Man ...	0-4-0	6	·10
10. Sex-Sublimation ...	0-6-0	8	·12
11. A Word to Sadhaka ...	0-4-0	6	·10

Inland: Postage Extra — Foreign: Post Free

१२. आदर्श-जीवन एवं मोक्ष (हिन्दी) मूल्य २॥) रु०

Messrs : N. K. PRASAD & COMPANY,
Printers & Publishers,
RISHIKESH. P.O. (U.P.)
HIMALAYAS — INDIA.

BOOK-OPINIONS

Permit me to state that the timely arrival of last order of books saved me from serious injury in practice of Pranayama. After careful study of your above books I finally am on the correct method.

For past five years I have read every book available in this city on Hindu spiritual teachings, but the books by your beloved Swami Narayanananda are by far superior of any of their kind. May God permit a wider distribution of his writings.

JOSEPH B. YOULE, ESQUIRE, NEW YORK. U. S. A.

"I have read the books of Revered Swami Narayananandaji and find them both interesting and edifying. They are replete with fresh and original ideas—the result of personal experience of a great Yogi. They are the best books in the market on the subject and are written in a simple, lucid, masterly style. They answer many questions that often arise in the mind of a beginner and they throw much light on the many dark and unknown aspects of human psychology, mind-control and Yogic-practice. They are full of practical hints for every groping, struggling spiritual aspirant. They are rare productions in the field of religion, metaphysics and Yoga and the treatment of such deep and difficult subjects is simple, easy and convincing. They are sure to prove a source of inspiration and guidance to every sincere seeker after Truth."

—*R. H. Rai, M. A.*
Retired Director of Education.